जिस में सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिस के आधार रहते हैं, अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवासस्थान है इस से परमेश्वर का नाम हिरण्यगर्भ है। (सत्यार्थ० श० सं० भाग १, पृष्ठ ११)

यह ओम् की उकार मात्रा की व्याख्या है।

(जीव और ब्रह्म की सुषुप्तावस्था का वर्णन)

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥

(यत्र सुप्तः) जिस अवस्था में गया जीव (न कंचन कामं कामयते) किसी कामना की इच्छा नहीं करता (न कंचन स्वप्नं पश्यति) और न किसी स्वप्न को देखता है (तत्सुषुप्तम्) वह सुषुप्ति अवस्था है। (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्ति अवस्था वाला जीव (एकीभूतः) उस समय वह जीव न स्थूलशरीर में कार्य करता है और न सूक्ष्मशरीर में ही। उस समय उस की सब वृत्तियां एकत्रित होजाती हैं (प्रज्ञानघनः) घनीभूत प्रज्ञावाला (आनन्दमयः) आनन्द बहुल (आनन्द भुक्) आनन्द का भोक्ता (चेतोमुखः) और निजी चेतन स्वरूप वाला (प्राज्ञः) अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है (तृतीयः पादः) यह तृतीय मात्रा म् है।

इसी प्रकार ब्रह्म की भी सुषुप्ति अवस्था महाप्रलयावस्था है जब वह ब्रह्म (न कंचन कामं कामयते) 'प्रजापतिरकामयत प्रजा येय इति' इस इच्छा से रहित होता है (न कंचन स्वप्नं पश्यति) अर्थात् उस अवस्था में ब्रह्म सूक्ष्मभूतों में भी कार्य करने वाला नहीं होता है। (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्ति अवस्था वाला ब्रह्म (एकीभूतः) अपने स्वरूप में स्थित (प्रज्ञानघनः) घनीभूत प्रज्ञा वाला (आनन्दमयः) आनन्द का भण्डार (आनन्द भुक्) केवल आनन्द को लेने वाला (चेतोमुखः) चैतन्यस्वरूप (प्राज्ञः) ज्ञानवान होता है। इस अवस्था वाला ब्रह्म कुछ नहीं करता केवल सब का स्वामीमात्र होता है।

म् अपीति शब्द का प् म् होकर ओम् में है और अपीति का अर्थ अन्तिम है अन्तिम अवस्था सुषुप्ति अवस्था है जिसमें ब्रह्म स्वामीमात्र रहता है अतः

मकार का अर्थ 'ईश्वर' हुआ।

जिस की व्याख्या महर्षि ने इस प्रकार की है कि—

य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्तते स ईश्वरः।

(सत्यार्थ० श० सं० भाग १, पृष्ठ ११)

अन्यत्र भी कहा है कि—

यो ऽसौ सर्वेषु वेदेषु पठ्यते ऽनद ईश्वरः ।
अकार्यो निर्व्रणो ह्यात्मा तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—जो सब वेदों में (अनदः) प्राणप्रद बताया गया है और जो (अकार्यः) कोई कार्य उस समय नहीं कर रहा होता है और (अव्रणः) अविकारी है वह ईश्वर है। वह मेरे मन को शुभसंकल्प वाला बनावे।

माण्डूक्योपनिषत् में भी यही कहा है कि—

'एष सर्वेश्वर एव'

अर्थात्—यह सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म (सर्वेश्वर एव) बस सब का स्वामी है इतना ही कहा जा सकता है। यह ओम् के मकार की व्याख्या है।

अ आदिशब्द का ग्राहक है। आदि—प्रथम अवस्था ब्रह्म की जागृत अवस्था है उस में ब्रह्म विराट् नाम वाला कहाता है अतः अ विराट् का वाचक है।

उ उभयशब्द का ग्राहक है। उभय—मध्यमावस्था ब्रह्म की स्वप्नावस्था है उसमें ब्रह्म हिरण्यगर्भ नाम वाला कहाता है अतः उ हिरण्यगर्भ का वाचक है।

म अपीतिशब्द का ग्राहक है। अपीति=अन्तिम अवस्था ब्रह्म की सुषुप्ति अवस्था है उस में ब्रह्म ईश्वर नाम वाला कहाता है। अतः म् ईश्वर का वाचक है।

(जीव और ब्रह्म की तुरीयावस्था का वर्णन)

प्रसङ्गवश हम चतुर्थ तुरीयावस्था का भी वर्णन करते हैं—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

जीव की तुरीयावस्था इस प्रकार की है कि (न अन्तःप्रज्ञम्) जिस प्रकार स्वप्नावस्था में जीव अन्तःप्रज्ञ=अन्दर बुद्धि वाला होता है वैसा तुरीयावस्था में नहीं होता अर्थात् सूक्ष्मशरीर में कार्य करने वाला नहीं होता और (न बहिःप्रज्ञम्) जागृत अवस्था के समान बाह्य जगत् में काम करने वाला भी नहीं होता अर्थात् स्थूल शरीर में कार्य करने वाला नहीं होता। (न उभयतः प्रज्ञम्) और न जागृत और स्वप्न की मध्यावस्था वाला होता है और न दोनों अवस्थाओं में एक साथ होजाता हो ऐसा भी

नहीं (न प्रज्ञानघनम्) न वह सुषुप्त अवस्था के समान घनीभूत प्रज्ञा वाला हो (न प्रज्ञम्) न वह उस समय किसी को जानने वाला होता है क्योंकि बाह्य आभ्यन्तर जगत् से पृथक् हुआ हुआ है। (न अप्रज्ञम्) और ऐसा भी नहीं कि अज्ञानी हो। (अदृष्टम्) तुरीयावस्था वाले जीव के स्वरूप को कोई देख भी नहीं स (अव्यवहार्यम्) वह व्यवहारों से परे है। (अग्राह्यम्) उस को कोई पकड़ भी सकता क्योंकि कर्मेन्द्रियों के व्यवहार से वह पृथक् है (अलक्षणम्) उसका लक्षण नहीं किया जा सकता क्योंकि वह चिह्न रहित है (अचिन्त्यम्) उस का चिन्तन भी नहीं कर सकता क्योंकि वह मन की सीमा से परे है (अव्यपदेश्यम्) शब्दों से नहीं कहा जासकता (एकात्मप्रत्ययसारम्) बस उस समय आत्मा है प्रतीति ही सार=प्रमाण उस में होती है (प्रपञ्चोपशमम्) जागृत आदि अवस्था के सब प्रपञ्च शान्त होजाते हैं (शान्तं) अविक्रिय (शिवम्) कल्याणस्वरूप (अद्वैत अनुपम (चतुर्थं मन्यन्ते) ऐसे चौथे पाद को=तुरीयावस्था को समझते हैं।

जीव के समान ब्रह्म की तुरीयावस्था वह है जब वह (न अन्तःप्रज्ञम्) जि प्रकार ब्रह्म अपनी स्वप्नावस्था में अवान्तर प्रलयों में सूक्ष्मभूतों में कार्य करने वाला है वैसा तुरीयावस्था में नहीं (न बहिःप्रज्ञम्) न उस समय स्थूलजगत् को बनाने होता है (न उभयतःप्रज्ञम्) और न दोनों की अवस्थाओं की सन्धि में स्थित हो है और न एक साथ दोनों अवस्थाओं में स्थित होता है (न प्रज्ञानघनम्) न घनी प्रज्ञावाला ही होता है (न प्रज्ञम्) ज्ञाता ज्ञेय व्यवहार उस समय नहीं होता (न अप्रज्ञ उस समय अज्ञानी हो ऐसा भी नहीं (अदृष्टम्) जगत् में जिस प्रकार उस के गु देखे जाते हैं वैसा भी वह तुरीयावस्था में नहीं होता (अव्यवहार्यम्) जिस प्र जगत् में उस का व्यवहार करते हैं वह भी नहीं (अग्राह्यम्) न वह ग्रहण कि जा सकता है (अलक्षणम्) ब्रह्म के उस स्वरुप का कुछ लक्षण भी नहीं बताया सकता है कि वह कैसा है (अचिन्त्यम्) उस स्वरूप का चिन्तन भी नहीं किया सकता क्योंकि वह स्वरूप मन की मर्यादा से परे है (अव्यपदेश्यम्) उस को शब्दों से नहीं कहा जा सकता है। इसीलिये यह चतुर्थ पाद=तुरीयावस्था अमात्र कहाती है। (एका प्रत्ययसारम्) बस आत्मा है यह प्रतीति ही उस का सार=लक्षण है। (प्रपञ्चो शमम्) बाह्यजगत् के सब प्रपञ्चों से रहित है (शान्तं शिवम् अद्वैतम्) उस के स्वरूप हैं शान्त=अविकारी शिवम्=कल्याणस्वरूप और (अद्वैतम्) अद्वितीय उस समय द्वैतभाव नहीं रहता। (चतुर्थं मन्यन्ते) इस को ब्रह्म का चौथा पाद कहा गया है। परन्तु यह ध्यान रहे कि ब्रह्म की जागृत अवस्था अकार से कही जाती है और ब्रह्म की स्वप्नावस्था उकार से कही जाती है और ब्रह्म की सुषुप्त अवस्था मकार से कही जाती है वैसे यह तुरीयावस्था किसी अक्षर से कही नहीं जा सकती वह ओ-

अमात्रश्चतुर्थो ऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवो ऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मै संविशत्यात्मना ऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥

अर्थात्—शान्त=प्रपञ्च वाले व्यवहार में न आसकने वाला, शिव और अद्वैत जो स्वरूप है वह चतुर्थ पाद (अमात्र) किसी अ उ म् मात्रा से नहीं कहा जासकता उस के लिये कोई मात्रा नहीं उस समय आत्मा में आत्मा का प्रवेश इस प्रकार एकात्म रूप होजाता है कि कोई द्वैत करके भान नहीं कर सकता ऐसा ज्ञान जिस का होता है वह ही उस अवस्था को प्राप्त होसकता है।

(गवर्ग व्याख्या—विश्व—तैजस—प्राज्ञ)

महर्षि ने लिखा है कि—

अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि उकार से हिरण्यगर्भ वायु तैजसादि मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।

(सत्यार्थ० श० स० भाग १ पृष्ठ ८५)

इन में अ—विश्व, उ—तैजस, म—प्राज्ञ की व्याख्या शेष रह जाती है। माण्डूक्योपनिषत् में लिखा है कि—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

अर्थात्—यह आत्मा ब्रह्म चतुष्पात्=चार पादों वाला है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।

अर्थात्—यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है=एक अक्षर उसका वाचक है। वह ओङ्कार अक्षर है। यह ओङ्कार मात्राओं में अधिष्ठित है। मात्रा का अर्थ पाद है और पाद का अर्थ मात्रा है और वे तीन हैं अकार उकार मकार।

वैश्वानरः प्रथमः पादः।
तैजसो द्वितीयः पादः।
प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

अर्थात्—प्रथम पाद अ—वैश्वानर, द्वितीय पाद उ—तैजस, तृतीय पाद म्—प्राज्ञ। अभिप्राय यह है कि अ का अर्थ वैश्वानर, उ का अर्थ तैजस, म् का अर्थ प्राज्ञ माण्डूक्योपनिषत् में लिखा है। 'वैश्वानर' और 'विश्व' का एक ही अर्थ है। निरुक्त में वैश्वानर के निर्वचनों में एक यह निर्वचन भी है कि—

अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः।

(निरुक्त ७।२१॥)

अर्थात्—प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि = जो सब भूतों में प्रविष्ट हो उसको विश्वानर कहते हैं । उस के अपत्य को वैश्वानर कहते हैं । दुर्गाचार्य अपनी निरुक्तवृत्ति में लिखता है कि—

विश्वानि ह्यसौ भूतानि प्रत्यृतः—प्रविष्ट इत्यर्थः तस्य अपत्यं विश्वानरस्य वैश्वानरः ।

(दुर्ग ७ । २१ ॥)

अर्थात्—जो सब भूतों में प्रविष्ट हो उसको विश्वानर कहते हैं और उस के पुत्र को वैश्वानर कहते हैं ।

वेदों में पुत्र शब्द अत्यन्त अर्थ का वाचक होता है । विश्वानर जो सर्वत्र प्रविष्ट हो और वैश्वानर = जो सर्वत्र अत्यन्त प्रविष्ट हो । इसी प्रकार कण्वः—मेधावी और प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः = अर्थात् अत्यन्त मेधावी ।

इसीलिये प्र शब्द अपत्य वाचक बना । कहना यह चाहिये कि अपत्य का अर्थ प्र = प्रकृष्ट है । यास्क ने स्वयं लिखा है कि—

मगन्दः कुसीदी ··· ··· ··· तदपत्यं प्रमगन्दः अत्यन्तकुसीदिकुलीनः ।

(निरुक्त ६ । ३२ ॥)

अर्थात्—मगन्द का अर्थ है ब्याजखोर ब्याज की कमाई करने वाला । उस का अपत्य प्रमगन्दः = अत्यन्त ब्याजखोर । जैसे आजकल लोक में कहा जाता है कि यह तो उसका भी बाप है । यहां बाप शब्द अत्यन्त वाचक ही होता है वैसे ही वैदिक बोली यह है कि यह तो उसका भी बेटा है अर्थात् अत्यन्त । अतः वैश्वानर का अर्थ है कि अत्यन्त भूतों में प्रविष्ट । महर्षि ने 'विश्व' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है कि

विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वा ऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्ट स विश्व ईश्वरः ।

(सत्यार्थ० श० स० भाग १ पृष्ठ ६१)

अर्थात्—जिस में आकाश आदि सब भूत प्रविष्ट हैं या जो आकाश आदि सब भूतों में प्रविष्ट है वह विश्व नाम वाला ईश्वर है ।

यद्यपि माण्डूक्योपनिषत्कार ने अ का अर्थ वैश्वानर या विश्व, उ का अर्थ तैजस और म् का अर्थ प्राज्ञ किया है तथापि यह विचारणीय है कि यह अर्थ भी अ उ म् के कैसे होगये इस पर भी प्रकाश डाला जाता है ।

प्रभु की सृष्टि तीन प्रकार की है। एक विश्वसृष्टि=तेजोहीन सृष्टि पृथिवी आदि, दूसरी तैजससृष्टि=सूर्यादि और तीसरी प्राज्ञसृष्टि=चैतन्यसृष्टि। इन तीनों प्रकार की सृष्टि के रचयिता को तत्तत् सम्बन्ध से विश्व तैजस और प्राज्ञ नाम से कहा जाता है। जैसा महर्षि ने लिखा है कि—

सूर्यादीनां प्रकाशकत्वात् स्वयं प्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः।

(पञ्चमहायज्ञविधि श० सं० भाग १ पृष्ठ ८६६)

अर्थात्—सूर्यादि सृष्टि का प्रकाशक होने से और स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से 'तैजस' शब्द ईश्वर का वाचक है।

अकार सब व्यञ्जनों में प्रविष्ट है। अतः अ का अर्थ विश्व। म् मिति शब्द का अवयव ओम् में है यह पूर्व कहा जा चुका है। मिति का अर्थ ज्ञान है अतः भी म् अक्षर का अर्थ प्राज्ञ होसकता है।

महर्षि ने यह भी लिखा है कि अ उ म् अन्य नामों के भी वाचक और ग्राहक हैं—

अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि
उकार से हिरण्यगर्भ वायु और तैजसादि
मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादि
नामों का वाचक और ग्राहक है।

यहां आदि शब्द का यह अर्थ है कि—

ओम् में 'अ' आप् धातु का भी दीर्घ आ ह्रस्व अ होकर ओम् में है अतः 'अ' सर्वव्यापक शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ का वाचक है। ओम् में 'उ' उत्कृष्ट शब्द का उ अवयव है अतः 'उ' उत्कृष्ट शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ का वाचक है। उत्कृष्ट=बढ़ण=सर्वोत्तम। ओम् में म् मिति शब्द का अवयव म है अतः म् मिति शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ सर्वज्ञ का वाचक है। अपीति का प् म् होकर ओम् का अवयव है अतः म् अपीति=अप्यय=प्रलयकर्ता संहर्ता शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ का वाचक है। इसी प्रकार ओम् के अ उ म् अन्य नामों के भी ग्राहक और वाचक होते हैं। महर्षि ने वाचक और ग्राहक शब्द लिखकर सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषत् का रहस्य समझा दिया। यह सन्ध्यापद्धतिमीमांसा में हमने विस्तार से लिखा है। जिस रहस्य को श्री शंकराचार्यादि न समझ सके और नाही आर्यविद्वान् ही समझ सके और वृथा ही माण्डूक्योपनिषत् पर टीका लिखने बैठ गये। स्वामीशंकराचार्यजी अ उ म् की व्याख्या करते

हुए बारंबार यही लिखते रहे कि "केन सामान्येन केन सामान्येन"। जो अपव्याख्या ही है। स्थिति केवल यही है कि शब्दों के अवयव उच्चारण किये जायें तो भी वे सम्पूर्ण शब्द के ग्राहक और वाचक होते हैं जिसको हमने विस्तार से समझाया है। शंकराचार्य अपने शाङ्करभाष्य में लिखते हैं कि—

जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्याकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—आप्तेराप्तिः व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग् व्याप्ता। अकारो वै सर्वा वाक्।

(माण्डूक्योपनिषत् शांकरभाष्य)

यह क्या व्याख्या है।

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में यह भी लिखा है कि—

विराट् ··· **अग्नि** ··· **विश्व** इत्यादि नामों का ग्रहण अकार मात्रा से होता है
हिरण्यगर्भ···**वायु**···**तैजस** इत्यादि नामार्थ उकार मात्रा से ग्रहण होते हैं
ईश्वर ··· **आदित्य** ··· **प्राज्ञ** इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं

(सत्यार्थ० श० स० भाग १ पृष्ठ ६१—६२)

यहां सत्यार्थप्रकाश का शुद्धपाठ अकारमात्रा उकारमात्रा है। ऐसा ही सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेखों में है परन्तु सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण से ही यह भूल प्रारम्भ होगई और यह पाठ इस प्रकार छपने लगा कि—

"अकारमात्र से, उकारमात्र से, मकार से"

यहां 'अकारमात्र' 'उकारमात्र' यह अशुद्ध पाठ हैं। मुन्शी समर्थदान उर्दू के ज्ञाता थे अतः इसको समझ न सके। यदि अकारमात्र और उकारमात्र पाठ ठीक है तो मकारमात्र क्यों नहीं। माण्डूक्योपनिषत्कार ने मात्रा शब्द का प्रयोग पाद अर्थ में किया है। महर्षि की दृष्टि में यह बात थी कि स्वरों में मात्रा शब्द का प्रयोग ठीक है अकारमात्रा उकारमात्रा। पर मकार में मात्रा शब्द का प्रयोग अव्यवहार्य है अतः 'मकार' से केवल इतना ही लिखा।

इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के प्रारम्भ में महर्षि ने लिखा है—

"सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः"

यह 'सच्चिदानन्दाय ईश्वराय' पृथक पृथक असमस्त पद हैं पर सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण से ही छपने लगा—

"सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः"

यह समस्तपद अशुद्ध है प्रभु के स्वरूपनिर्देश में महर्षि ने कहीं समास नहीं किया है जैसे—

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय—संस्कारविधिः.

इसी प्रकार ऋषि के ग्रन्थों में सहस्रशः ऐसी बातें हैं जिनको संपादक और प्रकाशक नहीं समझते। महर्षि का एक स्वभाव यह भी है कि प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रथम प्रकरण का नाम नहीं लिखते केवल पुस्तक का नाम लिखते हैं। जैसे पञ्चमहायज्ञविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रथम प्रकरण का प्रारम्भ नहीं लिखा। अगले प्रकरणों में प्रकरण का नाम है वैसे ही सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में 'प्रथमः समुल्लासः' नहीं लिखा है। पर संपादकों ने यह भी कर दिया। हम एक उदाहरण और उपस्थित करते हैं।

'तुम्हारा' और 'हमारा' यह आर्यभाषा के शब्द हैं जो संस्कृत के युष्मद् अस्मद् शब्द के विगड़े रूप हैं। युष्मद्—तुम्हारा। अस्मद्—हमारा।

युष्मद् के रूपों में 'तुभ्यम्' आदि में त श्रुति है अतः युष्मद् के विगड़े शब्द में तुम्हारा होगया। पर युष्मद् और अस्मद् दोनों शब्दों में स या ष् प्रथम है और म् उसके बाद है। स का विकार ह होता है अतः अस्मद् का विकार 'हमारा' हुआ इसी प्रकार युष्मद् शब्द में भी ष पहले है अतः उसका बिगड़ा रूप 'तुह्मारा' होगा तुम्हारा नहीं। ऋषि के हस्तलेखों में तुह्मारा होते हुए भी महर्षि के ग्रन्थों के सब संपादक और प्रकाशक 'तुम्हारा' ही छापते हैं। इन सबने महर्षि की भाषा को न समझ कर महर्षि के ग्रन्थों का आधुनीकरण कर दिया। पर महर्षि के हस्तलेखों में ठीक पाठ महर्षिसंमत विद्यमान हैं। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण की दुहाई देने वाले वृथा चिल्लाते हैं क्योंकि ये सब पाठ द्वितीय संस्करण से ही बिगड़ चुके थे। हम बहुत विस्तार में चले गये। दुःख के साथ इतना ही कहना पड़ता है कि—

'जीर्णमङ्गे सुभाषितम्'

अस्तु प्रकरण यह है कि व्यतिकीर्ण शब्द भी होते हैं जो अक्षरों से बने होते हैं। वे अक्षर जिस शब्द के अवयव होते हैं उस शब्द के ग्राहक और वाचक होजाते हैं।

यह 'यज्ञ' शब्द जिसकी व्याख्या में हमने इतना लिखा वह 'यज्ञ' शब्द धातुज है। यज् न, याच् न, इत्यादि और यह 'यज्ञ' शब्द समस्तार्थज भी है। यन्+जः, यजु+उज्ञः इत्यादि।

यहां 'यज्ञस्य' पद की व्याख्या समाप्त हुई।

(होतारम्)

'होता' शब्द 'हु दानादनयोः आदाने चेत्येके' इस धातु से तृन् प्रत्यय करने

पर बनता है। 'हु' धातु के पांच अर्थ हैं—

१–दान = देना, २–आदान = ग्रहण करना, स्वीकार करना, ३–अदन = भक्षण करना, संहार करना, ४–प्रक्षेप = यज्ञ में आहुति डालना आदि, ५–प्रीणन = तृप्त करना।

प्रश्न—यहां धातुपाठ में दान शब्द पारिभाषिक है उस का अर्थ 'यज्ञ में आहुति का डालना' है। देना यह अर्थ नहीं। जैसा कि भट्टोजि दीक्षित ने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी में लिखा है कि---

'दानं चेह प्रक्षेपः। स च वैधे आधारे हविषश्चेति स्वभावाल्लभ्यते'

(सिद्धान्तकौमुदी जुहोत्यादिगण)

अर्थात्—यहां दान का अर्थ यज्ञ कुण्ड में हविः का डालना है।

ऐसा ही मत सायणाचार्य, माधवीयाधातुवृत्तिकार और शब्दकल्पद्रुमकार आदि का है। अतः दानम् का देना अर्थ यहां असंगत है।

उत्तर—ये दीक्षित आदि लोकभाषा की दृष्टि से प्रत्येक बात कहते हैं महर्षि ने आख्यातिक में लिखा है कि—

"देना, खाना, और ग्रहण करना, यहां दान अर्थ से अग्नि में हवन करना भी लिया जाता है और इस धातु को भाष्यकार ने तृप्ति अर्थ में भी माना है"

(आख्यातिक जुहोत्यादिप्रकरण)

अतः दान शब्द का अर्थ देना मात्र भी है। जैसा कि देवराज यज्वा ने अपने निघण्टुभाष्य में लिखा है कि--

हविः············दीयते पिपासितेभ्यः आदीयते वा जनैरुपभोगाय।

(निघण्टु भाष्य १।१२॥)

अर्थात्--'हवि' शब्द 'हु' धातु से बनता है। हविः का अर्थ जल है जो हूयते = पिपासुओं को दिया जाता है और हूयते = मनुष्य उपभोग के लिये जिस का ग्रहण करते हैं।

यहां हु धातु का देना मात्र अर्थ है न कि यज्ञाग्नि में प्रक्षेप। और अदन = भक्षण। अर्थात् वह संहार करता है। जैसा कि वेदान्त सूत्र में लिखा है कि—

अत्ता चराचरग्रहणात् (वेदान्त १।२।६॥)

अर्थात्—परमात्मा अत्ता है क्योंकि चराचर को ग्रहण करता है संहार करता है।

आदान शब्द का अर्थ आधार और स्वीकार करना है। (यज्ञस्य होतारम्) की व्याख्यासंगति पृष्ठ २२४ पर की जा चुकी है।

'यज्ञस्य होतारम्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(पुरोहितम्)

वह अग्नि=परमात्मा पुरोहित है उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

१—पुरः=सृष्टि रचना से पूर्व जो परमाणआदि जगत् है उसको धारण करने वाला है। २—पुरः=सर्व देहधारियों की उत्पत्ति से पूर्व ही सकल पदार्थ उत्पन्न करके धारण करने वाला है। ३—पुरः=धर्मात्माओं के भक्ति आरम्भ होने से पूर्व ही भक्ति उपयोगी विज्ञान आदि को जो परमात्मा धारण करने वाला है।

अभिप्राय यह है कि—१--सृष्टि रचना से पूर्व केवल ब्रह्म ही ब्रह्म नहीं था जैसा नवीन वेदान्ती मानने लग गये हैं। प्रत्युत ब्रह्म के अतिरिक्त परमाणआदि नित्य पदार्थ भी विद्यमान थे जिन को परमात्मा स्वामी होने से प्रलय काल में धारण किये हुए था उसी से सृष्टि बनाई है। २—प्राणिसंसार उत्पन्न होने से पूर्व प्राणियों के उपभोग का सामान प्रभु ने पहले से रच कर धारण किया हुआ था। ३—धर्मात्माओं की कोरी अपनी भक्ति कार्य नहीं कर सकती है जब तक प्रभुप्रदत्त ज्ञानविज्ञान सहायक न हों उस को प्रभु ने पूर्व से ही धारण किया हुआ था।

प्रश्न—पुरोहित शब्द कर्मवाच्य में बनता है जैसा कि यास्क ने निरुक्त में लिखा है कि—

"पुरोहितः पुर एनं दधाति"　　(निरुक्त २।१२।।)

अर्थात्—पुरोहित उस को कहते हैं जिस को आगे धारण करते हैं। जैसे यज्ञ में ऋत्विजों को धारण करते हैं वे ऋत्विक् पुरोहित कहाते हैं। न कि धारण करने वाले को पुरोहित कहते हैं। यह तो कर्तृवाच्य का अर्थ है। और क्त प्रत्यय भी कर्मअर्थ में होता है।

उत्तर—क्त प्रत्यय आदिकर्म=क्रिया का प्रारम्भ इस अर्थ में भी होता और जो क्त प्रत्यय आदिकर्म अर्थ में होता है वह क्त प्रत्यय कर्ता में ही होता है। अतः पुरोहित शब्द का 'धारण करने वाला' अर्थ ठीक है। व्याकरणसूत्र पृष्ठ १८६ पर देखो। निरुक्तकार ने कर्ता और कर्म दोनों अर्थों में पुरोहित शब्द को माना है। इसीलिये 'एनं' यह अन्वादेश का प्रयोग किया है। विशेष विवरण संस्कृतभाष्य में देखो।

प्रश्न—जहां आदिकर्म में क्त प्रत्यय होता है वहां 'प्र' उपसर्ग अवश्य लगा होता है जैसे—

प्रकृतः कटं देवदत्तः = देवदत्त ने चटाई को बनाना प्रारम्भ कर दिया ।

उत्तर—आदिकर्म के रूपों में प्र उपसर्ग लगना कोई आवश्यक नहीं है । बिना प्र उपसर्ग के भी आदिकर्म में क्त प्रत्यय देखा जाता है जैसे—

"एते याताश्च सद्यः तव वचनामितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः"

(नागानन्द नाटक ३। १५ ॥)

अर्थात्—ये सिद्ध लोग तेरी आज्ञा को प्राप्त कर के युद्ध के लिये याताः = चल पड़े ।

यहां 'याताः' आदिकर्म में है पर प्र उपसर्ग नहीं है अतः पुरोहित शब्द में भी क्त प्रत्यय बिना प्र उपसर्ग के आदिकर्म अर्थ में है ।

'पुरोहितम्' की व्याख्या समाप्त हुई ।

(देवम्)

वह अग्नि = परमात्मा 'देव' है उस की हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं ।

देव = सुखों का दाता, सब जगत् का प्रकाशक, अपने भक्तों को हर्ष देने वाला, अधर्मान्यायकारी मनुष्यशत्रु और काम क्रोधादि शत्रुओं के विजय की इच्छा से पूर्ण है और सब विद्वान् जिस की कामना करते हैं ।

पांच देव शब्द हैं जो भिन्न भिन्न प्रकृतियों से बने हैं अन्त में सब की आकृति एक होजाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही देव शब्द है और उस के अनेक अर्थ हैं । वे पांच देव शब्द नीचे लिखे प्रकार हैं—

१—एक देव शब्द—

"डु दाञ् दाने" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है । ददातीति देवः । दा+अच् । दाव्+अ । देव्[1]+अ । देवः ।

२—दूसरा देव शब्द—

१—'डुदाञ् दाने' धातु के 'देयात्' आदि रूपों में एकार भी देखा जाता है ।

"दीपी दीप्तौ" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है। [1]दीप्यते प्रज्वलीति देवः। दीप्—अ। दीव्—अ। देवः।

३—तीसरा देव शब्द—

"द्युत दीप्तौ" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है।
द्योतते प्रकाशते इति देवः।
द्युत्+अ। दि+उ+अ। दि+व्+अ। देवः[2]।

४—चौथा देव शब्द—

दिव् शब्द से तद्धित् अण् प्रत्यय करने पर बनता है। दिवः इमे इति देवाः। दिव+अण्। देव+अ। देवः। द्युलोक में रहने वाले पदार्थ[3]।

५—पांचवां देव शब्द—

"दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति [4]गतिषु" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है। दीव्यतीति देवः। दीव्यते इति देवः।

महर्षि के विस्तृत भाष्य में 'सर्वैर्विद्वद्भिः कामनीयम्' सब विद्वान् जिस की कामना करते हैं यह कर्म में अच् प्रत्यय है।

'देवम्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(ऋत्विजम्)

वह अग्निः=परमात्मा ऋत्विक् है उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

१—ऋत्विक्=ऋतौ ऋतौ — प्रत्येक सृष्टि के समय यजति—संसार को संगत करता है अर्थात् स्थल सृष्टि को रचने वाला है।

ऋतु शब्द 'ऋ गतौ' धातु से बनता है। यहां गति का अर्थ है नियमित—मर्यादा पूर्ण गति। बसन्त आदि ऋतुएं ठीक समय पर बारम्बार लौट लौट कर आती

१—प्रज्वलनशील भौतिकाग्नि।
२—देवः प्रकामानः परमेश्वरः (महर्षिभाष्यम् ऋ० २।२२।२॥)
३—(देवाः) चन्द्रादयो दिव्याः पदार्था इव विद्वांसः (म० भा० ऋ० ४।१६।२॥)
४—'कमु कान्तौ' धातु से कान्ति शब्द बनता है।
'कान्ति' का अर्थ शोभा भी है और कामना=इच्छा अर्थ भी है। जैसे इच्छा अर्थ में कन्या कामयते पतिम्। निष्कण्टुमर्थं चकमे कुबेरात्।

हैं। स्त्री का ऋतु काल भी ठीक समय पर बार बार आता है। किसी स्त्री का २८ दिन बाद किसी स्त्री का २६ दिन बाद इत्यादि[1]। प्रत्येक नियमित समय को ऋतु कहते हैं। ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्द वेङ्कट आदि ने भी ऋतु का अर्थ प्रत्येक यागकाल इसी लिये किया है।

'ऋत' शब्द भी 'ऋ गतौ' धातु से बनता है।

'ऋतं च॑ स॒त्यं च॑०' (ऋ० १०। १६०। १॥) मन्त्र में 'ऋतम्' का अर्थ वेद[2] है। क्योंकि वेद प्रत्येक सृष्टि में बारम्बार वही लौट कर आता है और सब मर्यादाओं को वर्णन करने वाला भी है। 'आर्य' शब्द भी 'ऋ गतौ' धातु से बनता है। जिसका जीवन मर्यादाओं से बंधा हुआ है वह आर्य कहाता है और जो मर्यादाओं का उल्लंघन करता है वह अनार्य कहाता है। यास्क ने निरुक्त[3] में 'ऋतुथा = काले काले' अर्थ किया है। ऋ धातु से बने प्रत्येक शब्द के अर्थ में मर्यादा पाई जाती है। अतः महर्षि ने ऋतु शब्द का अर्थ प्रत्येक सृष्टि उत्पत्ति का समय किया है।

२—ऋत्विक् = प्रत्येक समय जिस की पूजा हो सकती है।

३—ऋत्विक् = जो प्रभु ऋत्विक् के समान है। अर्थात् जैसे ऋत्विक् अग्निहोत्रादि यज्ञों का सम्पादन करता है वैसे परमात्मा भी ज्ञान आदि यज्ञों का संपादक है।

अनेक प्रकार के यज्ञ हैं तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ[4] आदि। अग्निहोत्रादि द्रव्ययज्ञ कहाते हैं।

'ऋत्विक्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(रत्नधातमम्)

वह अग्नि = परमात्मा रत्नधातम है उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

रत्नधातमम् = जीवों को देने के लिये रत्नों को अत्यन्त धारण करने वाला या

१—यही स्त्री का मास कहाता है उस के दस मास में गर्भस्थ बालक का जन्म होता हैं। जैसे जिस स्त्री का २८ दिन का मासिक ऋतु धर्म है उस के २८० दिन में बच्चा पैदा होगा। वेदों में 'एज॑तु दश॑मास्यो॒ गर्भो॑ ज॒रायु॑णा स॒ह' (यजु० ८। २८॥) दस मास गर्भ रह कर बच्चा पैदा होगा लिखा है। वे १० मास स्त्री के मास के नियम से हैं न कि चैत्र आदि या जनवरी आदि।

२—देखो पञ्चमहायज्ञविधि ब्रह्मयज्ञप्रकरण।

३—निरुक्त ८। १७॥ और १२। २७॥

४—देखो भगवद्गीता (४। २८, ४। ३३॥)

प्रत्यन्त देने वाला है उसको। 'रत्न' शब्द 'रमु' धातु से 'न' प्रत्यय करने पर बनता है। जिसमें मन लगे उस को रत्न कहते हैं। अधिकारिभेद से पृथक् पृथक् विषय में मन लगता है। किसी का मन हीरा जवाहरात में रमा करता है। पर योगियों का मन ज्ञान में लगता है उन के लिये ज्ञान ही रत्न है। वह परमात्मा जीवों के लिये हीरा आदि रत्नों को भी देता है और मुमुक्षुओं को ज्ञान हीरा देता है।

'धा' धातु के धारण पोषण और दान तीन अर्थ हैं'[1]।

रत्नधातम की व्याख्या समाप्त हुई।

विशेष द्रष्टव्य—'यज्ञस्य' इस षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध सब के साथ है। यज्ञस्य होतारम्। यज्ञस्य पुरोहितम्। यज्ञस्य देवम्। यज्ञस्य ऋत्विजम्। यज्ञस्य रत्नधातमम्।

'यज्ञस्य पुरोहितम्' यह महर्षि ने पदार्थान्वय में लिखा है। 'यज्ञस्य होतारम्' यह पदार्थान्वयभाषा में है। 'यज्ञस्य देवम्' यह विस्तृतभाष्य में है।

(यज्ञस्य) यह शैषिकी षष्ठी है। पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और यज्ञ के विशेषण हैं।

(भ्रान्तिनिवारण श० सं० भाग २ पृष्ठ ६१२॥)

यज्ञस्य देवम्=विद्वत्सत्कार आदि का देने वाला और अग्निहोत्रादि यज्ञों का वेदों में प्रकाशक।

यज्ञस्य पुरोहितम्=विद्या विज्ञान आदि के आविर्मूल। इत्यादि।

अरविन्दशिष्य कपालि सिद्धाञ्जनभाष्यकार ने लिखा है कि यज्ञस्य का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ है यह बात अनावश्यक और अयुक्त है। कपालि का यह कथन कपोलकल्पना मात्र है जो विना नाम लिये महर्षि का खण्डन किया है।

अभियुक्तों का कहना है कि—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थोऽपि तस्य तत्। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्।

अर्थात्—जिस का जिस के साथ सम्बन्ध है वह दूर होने पर भी उस के साथ जुड़ेगा। हां अर्थ असंगत हो तो किसी शब्द का समीप होने मात्र से किसी के साथ जोड़ना असंगत कहावेगा।

यह ऋग्वेद की प्रथम ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ समाप्त हुआ। अब आगे भौतिकाग्नि परक मन्त्र की व्याख्या संस्कृत और आर्यभाषा में की जावेगी।

१—डु धाञ् धारणपोषणयोः। दानेऽप्येके। (माधवीयधातुवृत्तिः) 'रत्नधातमम् रमणीयानां धनानां दातृतमम्' (निरुक्त ७।१५॥)

अथ द्वितीयोऽर्थः

(महर्षिभाष्यम्)

भौतिको वा ……… दग्धादिति विशेषणाद् भौतिकस्यापि । (ऋ० भा० पदार्थः)

भौतिकस्य रूपदाहप्रकाशवेगछेदनादिगुणवत्त्वाच्छिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृतमस्तीति वेदितव्यम् । (ऋ० भा० भावार्थः)

अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्निर्गृह्यते । रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निम् । … …. …

कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति । विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति । (म० विस्तृतं भाष्यम् द्वितीयोऽर्थः)

तथा उपकार के लिये । (ऋ० भा० पदार्थान्वयभाषा)

(ईळे) अधीच्छामि प्रेरयामि वा । (ऋ० भा० पदार्थः)

(ईळे) तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे । (ऋ० विस्तृतं भाष्यं भौतिकार्थे

मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ[1] ।

(ऋ० विस्तृतं भाष्यं भौतिकार्थे भावार्थः)

1—स्तुति करता हूँ अर्थात् गुणों का वर्णन करता हूँ ।

(अन्वितार्थप्रदीपः)

अथोपकारार्थमहम् (अग्निम्) भौतिकमग्निम् । (ईळे) अधीच्छामि=अधिकं यथा स्यात् तथा पुनः पुनरित्यर्थः इच्छामि । अथ च प्रेरयामि=क्रियोपयोगिनं करोमि । अथ च तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे=तस्य भौतिकाग्नेयानचालनादिगुणानामनुसन्धानं करोमीत्यर्थः । अथ च स्तुवे=तस्याग्नेर्गुणवर्णनं करोमि ।

'ईड स्तुतौ' इति धातुपाठे । 'ईडे······अनेकार्थः' इति कौत्सव्यनिघण्टौ । 'ईळिरध्येषणाकर्मा' इति निरुक्ते ७।१५॥

तत्र स्तुतिर्गुणवर्णनम् । अध्येषणायाश्चार्थत्रयम्—

१—अध्येषणा=अधिकं यथा स्यात् तथा पौनःपुन्येनेच्छा ।

२—अध्येषणा=प्रेरणा । ३—अध्येषणा=अन्वेषणम् ।

(१) अधिपूर्वाद् 'इष इच्छायाम्'[1] इत्यस्माद् धातोः स्त्रियां भावे युचि टापि अध्येषणा=पौनःपुन्येनेच्छा ।

२—अधिपूर्वाद् 'इष गतौ' इत्स्माद् धातोर्णिजन्तात् स्त्रियां भावे युचि टापि अध्येषणा=प्रेरणा ।

ननु 'इषेरनिच्छार्थस्य' (वा० ३।३।१०७)

इत्यनिच्छार्थस्य युज्विधानात् कथं युच्प्रत्ययान्तस्य अध्येषणाशब्दस्य पौनःपुन्येनेच्छा इत्यर्थः ।

उच्यते—अनिच्छार्थस्यापि पदस्येच्छार्थे प्रयोग उपलभ्यते यथा—

उ॒दङ् प्र॒यन्ना॑ह॒ अप॒ इ॑ष्य॒ होतः॑, इ॒त्यप॒ इ॑च्छ॒ होत॑रि॒त्ये॑वैत॒दा॑ह ॥
(शत० ब्रा० ३ । ६ । ३ । १५ ॥)

अस्यायमर्थः—उदङ् प्रयन्=उदङ्मुखं गच्छन् । आह=प्रैषान् ब्रूयात् । तत्र प्रथमं प्रैषमाह—

अप इष्य होतः—हे होतः! अपः प्रति इष्य=इच्छ 'प्र देवत्रा०' (ऋ० १०।३०।१)

१—केचित्तु इषु इच्छायाम् इति पठन्ति ।

पानश्रीयमनुब्रूहीत्यर्थः । तथोक्तमैतरेये—अपोनप्त्रीयमकुर्वत 'प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ।

अत्राह सायणः—

इष्यतेरिच्छतिरर्थ इति व्याचष्टे—अप इच्छ होत इत्येवैतदाहेति (सायण शतपथभाष्य ३ । ६ । ३ । १५ ।।)

३—दृश्यते च इच्छतिरन्वेषणार्थेऽपि । यथा—

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
रक्षसाऽपहृता सीता तामिच्छन्ताविहागतौ ॥

(वा० रा० अरण्य ७० सर्ग १५ श्लोक)

तामिच्छन्ती तामन्वेषयन्ताविहागताविति कबन्धं प्रति लक्ष्मणस्योक्तिः । 'इच्छन्तौ अन्वेषयन्तौ' इति रामायणटीकाकृतः ।

(भौतिकार्थेऽग्निशब्दस्य व्याख्या)

अथ भौतिकार्थेऽग्निशब्दं व्याख्यास्यामः । अत्राह यास्कः—

अग्निः कस्मात् ... ... अङ्गं नयति सन्नममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । न क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—इतात् अक्ताद् दग्धाद् वा नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते । गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा । नी परः ।

(निरुक्त ७ । १४ ।)

१—अस्यायमर्थः—अयमग्निशब्दोऽङ्गपूर्वात् 'नी' धातोरपि निष्पन्नः । स हि सन्नममानः=यत् किंचिदपि समाश्रयन् अङ्गं नयति=स्वं रूपं प्रापयति । यत्र तृणे काष्ठे वा समाश्रयति तत् सर्वमात्मसात्करोति भस्मीकरोतीत्यर्थः । स अङ्ग+नी । अग्+नी सन् ङकारलोपेन ईवर्णस्य इवर्णव्यात्यया च अग्निरित्युच्यते परोक्षेण । ईदृशोऽग्नि भौतिकाग्निः ।

२—अन्यथाग्निशब्दः नञ् पूर्वात् "क्नूयी शब्दे उन्दे च" इत्यस्मात् धातो

निष्पन्नः। यो हि न क्नोपयति[1]=न स्नेहयति रूक्षयतीत्यर्थः स न+क्नूय्। न क्नू। अक्नू। अक्निः। अग्निः सन् नकारयकारयो लोपेन ककारस्य गकारवर्णव्यापत्त्या ऊकारस्य च इकारव्यापत्त्या परोक्षेण अग्निरित्युच्यते। इति स्थौलाष्ठीविर्नैरुक्ताचार्यो मन्यते स्वनिरुक्ते।

३—अन्यथाग्निशब्दस्त्रिभ्यो धातुभ्यो जायते। भवन्ति बहुधातुजा अपि शब्दा इत्युक्तं प्राक् २३० पृष्ठे। के च ते त्रयो धातव इत्यत्राह—

इण् धातुः, दह धातुः, नी धातुः। इण् धातोः अयनम् आदिशब्देषु दृष्टो ऽकारः। दह धातोः दग्धम् आदिशब्देषु दृष्टो गकारः। नी परः। य एति=गच्छति गतिशीलः। यश्च दहति=भस्मसात् करोति। यश्च नयति=प्रापयति गतिं ददाति स्थानान्तरं प्रापयति सो ऽग्निः। इण्=अ, दह=ग्, नी=नि=अग्निः।

४—अन्यथाग्निशब्दः इण् धातोः अञ्जू धातोः नीधातोश्च निष्पन्नः। य एति नयति पूर्ववत्। अनक्ति=रूपाणि प्रकटयति सो ऽग्निः। इण्=अ, अञ्जू धातोः अक्तम् आदिशब्देषु दृष्टः ककारो गकारीकृतः। नी परः[3]। इण्=अ अञ्जू=ग्, नी=निः।

अत्रेदमप्यवबोद्धव्यम्—वैदिका हि शब्दा योगार्थं पुरस्कृत्य नानार्थेषु वर्तन्ते। यथा महर्षिभाष्ये—

(अग्निः) न्यायमार्गे गमयिता विद्वान्। (ऋ० भा० १।१०७।३॥)

१—क्नोपयतेरर्थान्तरप्रसिद्धत्वाद् अनेकार्था धातव इत्याह—इति स्कन्दः।

२—स्थूलाष्ठीवः कश्चित् तदपत्यं स्थौलाष्ठीविः। 'बाह्वादिभ्यश्च' (शब्दानु० ७।१।९६॥) इति बाह्वादेराकृतिगणत्वात् अपत्यार्थे इञ् प्रत्ययः। अयं स्थौलाष्ठीविराचार्यो अन्यत्रापि निरुक्ते स्मृतः। "वायुः………एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः" (निरु० १०।१॥)

अस्यायमर्थः—स्थौलाष्ठीविराचार्यो मन्यते वायुः शब्द इण् धातोर्निष्पन्नः। अत्र वकारो ऽनर्थकः। एतीति वायुः।

३—निरुक्ते एतेः अनक्तेः दहतेः नयतेः इति वक्तव्ये इतात् अक्तात् दग्धात् नीतात् इति क्तान्तानामुपादानं रूपप्रत्यासत्तिप्रदर्शनार्थम्। क्तप्रत्यये हि अञ्जेर्जकारस्य दहतेर्हकारस्य कवर्गापत्तिर्दृष्टा। इतात् नीतात् इति तु साहचर्यात्।

(अग्नयः) नेतारो नयन्ति श्रेष्ठान् पदार्थान् ।
(यजु० भा० ५ । २४ ॥)

(अग्निः) विज्ञानस्वरूपः । (ऋ० भा० १ । ७७ । २ ॥)

(अनेकनिर्वचनानि)

अत्रापि अनेकानि निर्वचनानि विभिन्नेषु वाच्येषु ज्ञेयानि । अङ्गनीरन्यः । अक्नोपनोऽन्यः । त्रिजौ चान्यौ । इति सर्वत्र निर्वचनप्रसङ्गेषु ज्ञेयम् ।

महर्षिणा भाष्ये भौतिकाग्नेर्गुणा उक्ताः—रूपम् । दाहः । प्रकाशः । वेगः । छेदनम् । ऊर्ध्वगमित्वम् । भास्करत्वम् । एतद्गुणं भौतिकाग्निम् ईळे तस्य गुणान्वेषणं कुर्वे इत्यादि । तथा च मन्त्रवर्णाः—

स्व॒र्ण घ॒र्मः स्वाहा॑ स्व॒र्णार्कः स्वाहा॑ स्व॒र्ण शु॒क्रः स्वाहा॑ स्व॒र्ण ज्योति॒ः स्वाहा॑ स्व॒र्ण सूर्य॒ः स्वाहा॑ । (यजु० १८ । ५० ॥)

अत्राह याज्ञवल्क्यः शतपथे—

यद्वे॒वाह॑ । स्व॒र्ण घ॒र्मः स्वाहा॑ स्व॒र्णार्कः स्वाहेत्य॒स्यै॒वैता॒न्यग्नेर्नामानि । (शत० ब्रा० ९ । ४ । २ । २५॥)

अस्यायमर्थः—स्वर्ण घर्मः स्वाहा० इत्यादिमन्त्रे घर्मः—अर्कः—शुक्रः—ज्योतिः—सूर्य इत्यग्नेर्नामानि पञ्च ।

(१) घर्मः—जिघर्ति प्रक्षरति स्वेदः शरीराद् अनेनेति घर्मः आतप इत्यर्थः । जिघर्ति दीप्यते प्रकाशं ददाति यः स घर्मः । अग्नेर्यो घर्मो नाम तस्यातपप्रकाशावर्थौ । घृ+मक् । 'घृ प्रक्षरणदीप्त्योः' धातुः ।

(२) अर्कः—ऋच्छति=प्रापयति इत्यर्कः । यो हि गतिमान् वेगवानित्यर्थः सोऽर्को नामाग्निः । 'ऋ गतिप्रापणयोः' इत्यस्मात् कः प्रत्ययः । यथा कुत्से कर्कोऽन्तोदात्तः ।

१—स्वः । न इति पदद्वयम् न शब्द उपमावाचकः । स्वः नः = स्वरिव । वेदेऽधो रेखया स्वर्यते । शतपथे तु उदात्तोऽधोरेखया स्वर्यते ।

(३) शुक्रः—तस्माच्छुक्लं पवित्रं ७ शुक्रः सोमः स शुक्लत्वाय ।

(ताण्ड्य० ६ । ६ । ६ ॥)

अस्यायमर्थः—पवित्रम्=दशापवित्रं शुक्लम्, सोमोऽपि शुक्रः=निर्मलः स सोमः शुक्लत्वाय शुक्लसोमानुगुण्याय भवति। शुक्र शुक्ल शब्दौ पर्यायौ शुक्रशब्दः शुक्लत्वेन परिणतः । तस्मादग्नेर्यो नाम शुक्र इति तस्यार्थः शुक्लः श्वेतो भास्वररूप इत्यर्थ ।

(४) ज्योतिः—द्योतत इति ज्योतिः । 'द्युत दीप्तौ' इत्यस्मात् 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः' (उणा० २।१११॥) इति इसिन् प्रत्ययः धातोरादेर्दकारस्य जकारादेशश्च । नित्वादादाद्युदात्तः । अग्नेर्यो ज्योतिर्नाम तस्यार्थः तेजः । अत उक्तम्—

अग्निर्वा अरुषः । (तै० ब्रा० ३ । ६ । ४ । १ ॥)

तेजो वा अग्निः । (तै० ब्रा० ३ । ३ । ४ । ३ ॥)

(५) सूर्यः—सुवति प्रेरयतीति सूर्यः । अग्नेर्यः सूर्यो नाम तस्यार्थः प्रेरकः गतिप्रदाता ।

अथाग्निरूपाण्युच्यन्ते—

तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि । (शत० ६ । १ । ३ । १८ ॥)

अस्यायमर्थः—रुद्रः । शर्वः । पशुपतिः । उग्रः । अशनिः । भवः । महान् देवः । ईशानः । इत्यष्टौ अग्ने रूपाणि । यानि कार्याण्यसावग्निः करोति तान्यस्य रूपाण्युच्यन्ते । तत्र रुद्ररूपमुच्यते—

रौद्रो वै प्रतिहर्ता (गो० ब्रा० उ० ३ । १६ ॥)

अस्यायमर्थः—एषो ह्यग्निः प्रतिहर्ता छेदनभेदनकर्ता इत्यादि ज्ञेयम् । विस्तरभयान्न प्रपच्यते । तस्मात्साधूक्तं महर्षिणा—

भौतिकस्य रूपदाहप्रकाशवेगछेदनादिगुणत्वात् शिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृत-

मस्तीति वेदितव्यम् ।

(ऋ० भा० भावार्थः)

अस्यायमर्थः—अग्निं विना सर्वोत्तमशिल्पविद्याया अभावः । तथा चोच्यते—

सोऽग्निमब्रवीत् । त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि त्वं प्रथमो वृणीष्वेति ।

(जै० उ० १ । ५१ । ५६ ॥)

इयं प्रजापतेरग्निं प्रत्युक्तिः ।

यत्तूक्तं भाष्ये भावार्थे—

आर्यैर्याश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः शिल्पविद्या संपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत् ।

इत्यत्र मन्त्रवर्णा एव प्रमाणम् । तथाहि—

वृषो॑ अ॒ग्निः समि॑ध्य॒तेऽश्वो॒ न दे॑व॒वाह॑नः ।
तं ह॒विष्म॑न्त ईळते ।

(ऋ० ३ । २७ । १४ ॥)

वृषो॒ इति॑ । अ॒ग्निः । सम् । इ॒ध्य॒ते॒ । अश्वः॑ । न । दे॒व॒ऽवाह॑नः । तम् । ह॒विष्म॑न्तः । ई॒ळ॒ते॒ ।

भाष्यम्—यदा शिल्पिभिः अयम् (अग्निः) भौतिकाग्निः (समिध्यते) यन्त्रकलादिभिर्यानेषु प्रदीप्यते तदाऽयमग्निः (वृषा उ) वृष इव (अश्वो न) अश्व इव (देववाहनः) देवान् विदुषः शीघ्रं देशान्तरे प्रापकः (तम्) अग्निम् (हविष्मन्तः) [2]अतिशयेन होतुम्—दातुमादातुमत्तुं योग्यैर्वस्तुभिर्युक्ता मनुष्या

१—वृषा उ इति पदद्वयम् । उञः प्रगृह्यसंज्ञामाश्रित्य ओकारस्य प्रकृतिभावः तस्य इवार्थः ।

२—अतिशायने मतुप् । तथा चोक्तम्—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

(ईळते) कार्यार्थमधीच्छन्तीति ।

अग्नेर्भौतिकार्थे ब्राह्मणमपि चात्र भवति ।

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य । (शत० १।४।३।११॥)
तूर्णिर्हव्यवाडिति । (शत० १।३।४।१२॥)
अग्निर्वा अश्वः श्वेतः । (शत० ३।५।१।५॥)

कीदृशं भौतिकाग्निमित्यत्राह

(यज्ञस्य होतारम्) (यज्ञस्य देवम्)

(महर्षिभाष्यम्)

(यज्ञस्य) .... विद्यादिदानस्य शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य वा .... (होतारम्) दातारम् । (देवम्) द्योतकम् । (म० भा० ऋ० १।१।१॥ पदार्थः)

(यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य । (देवः) व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम् । (म० विस्तृतं भाष्यं द्वितीयोऽर्थः)

(अन्वितार्थप्रदीपः)

भौतिकमग्निं विशिनष्टि—(यज्ञस्य) विद्यादिदानस्य । 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इति यज धातोर्नङ् प्रत्ययः । (यज्ञस्य) शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य=शिल्पक्रियाभिरुत्पादयितुं योग्यस्य पदार्थसमूहस्य । यन् = शिल्पक्रियां प्राप्नुवन् जात इति । यन्+जः सन् यज्ञ इत्युच्यते ।

स यन् जायते तस्माद् यज्ञः । यज्ञो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः ।
(शत० ३।६।४।२३॥)

१७०. पृष्ठे व्याख्यातम् ।

(यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य= विविधाभिः अनेकप्रकाराभिः क्रियाभिः शिल्पक्रियाभिः जातस्य उत्पन्नस्य शिल्पविद्यादिक्रियाभिः तदनुभवैः जन्यो यो बोधः ज्ञानं तदात्मकस्य संगतस्य संगतिकरणरूपस्य शिल्पविद्यादिमयस्य यज्ञस्य (होतारम्) दातारम् । अथ च तादृशस्य यज्ञस्य (देवम्) प्रकाशकम् । अथ च (देवम्) व्यावहारिकविद्यायाः प्रकाशकम् ।

(महर्षिभाष्यम्)

(पुरोहितम्) पुरस्ताद्……दधाति छेदनधारणाकर्षणादिगुणान् (म० भाष्य ऋ० १ । १ । १ पदार्थ)

(पुरोहितम्) अतएव सोऽग्निः पुरोहितः पुरस्ताद् विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितः । (म० विस्तृतं भाष्यं द्वितीयोऽर्थः)

अन्वितार्थप्रदीपः

पुनर्भौतिकाग्निं विशिनष्टि—(पुरोहितम्) पुरस्तात्=शिल्पविद्याजातानां पदार्थानामुत्पत्तेः प्रागपि दधाति=छेदनधारणाकर्षणादिगुणान् धारयतीति तम् । अस्मिन् भौतिकाग्नौ छेदनधारणाकर्षणादिगुणा विद्यन्त इत्यर्थः । शिल्पविद्यायामग्निद्वारैव छेदनं धारणम् आकर्षणं च क्रियत इति यावत् ।

विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणम्—विमानम् = पक्षिवदुड्डयनम्, कला=गीतवादित्रादि, कौशलम्=क्षिप्रकारित्वम्, क्रिया=चक्रवृत्तत्वादि, प्रचालनम्=यानादिचालनम् तदादिगुणम्=तदादिगुणमयम् शिल्पविद्यास्वरूपं पुरस्तात् दधातीति तम् । अयमग्निः सर्वशिल्पविद्यानां प्रथमो हेतुः निदानं बीजं कारणमिति ।

विमानशब्दो विमानशास्त्रे व्याख्यातस्तथाहि—

विमानो वेगसाम्यादण्डजानामिति । (वि० शा० १।१।)

अस्यायमर्थः—वीनामण्डजानां पक्षिणामिति यावत् वेगसाम्यात् तेषां वेगशक्तिं य मातुं समर्थः स वि+मान इत्युच्यते । अस्य विमानशास्त्रस्य वृत्तौ विश्वम्भरो ऽप्याह—

देशाद् देशान्तरं तद्वद् द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा ।
लोकाल्लोकान्तरं चापि यो ऽम्बरे गन्तुमर्हति ।
स विमान इति प्रोक्तः खेटशास्त्रविदां वरैः ।।

खे आकाशे ऽटतीति खेटो विमानः तच्छास्त्रज्ञानां वरैः श्रेष्ठैः । स्पष्टमन्यत् ।

पुनर्भौतिकाग्निं विशिनष्टि—

(ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ=सर्वर्तुषु यजति=सर्वशिल्पसाधनानि संगमयति, सर्वर्तुसुखानि शिल्पविद्याजन्यसाधनानि प्रापयतीत्यर्थस्तम् । यथासमयं वा शिल्पविद्यासाधनहेतुम् । सर्वशिल्पविद्याव्यवहारस्य द्योतनार्हं=द्योतकम् ।

अथ च ऋत्विजमिव=यथा ऋत्विक् समये सर्वसाधनानि संगमयति तथाऽयमग्निः समयानुरोधेन सर्वं संपादयति ।

महर्षिभाष्यं चाऽत्र द्रष्टव्यम्—

ऋतौ ऋतौ शिल्पसाधनानि संगमयति ।

(म० भा० ऋ० १ । १ । १ । पदार्थः)

सर्वशिल्पविद्याव्यवहारद्योतनार्हम् । (महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम्)

पुनर्भौतिकाग्निं विशिनष्टि—

(रत्नधातमम्) रत्नानि सुवर्णादीनि दधाति धापयतीत्यर्थः । अन्तर्णीतण्यर्थः । स रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम् । यद्वा तद्विधानिष्ठानां जनानां रत्नैरतिशयेन दधाति पोषयति तम् । अथ च रत्नशब्देन रत्नविद्योच्यते तस्याधारभूतमिति च ।

अयं धा धातुर्दानेऽपि वर्तते तथा चोक्तम्—

डुधाञ् ल धारण पुष्टौ दान । (कविकल्पद्रुमः)

अत्र 'लि' इति जुहोत्यादिगणसंज्ञा । अयं धातुर्धारणे पुष्टौ दाने च वर्तत इत्यर्थः । यथा--

'द्विषता विहितं त्वयाथवा' (किरातार्जुनीयम् २ । १७ ।।)

विहितं दत्तमित्यर्थः । विहितमिति वि पूर्वाद् धा धातोः क्तान्तरूपम् ।

शिल्पविद्यायां साधितोऽग्नी रत्नप्रदः । तत्प्रभावेण शिल्पिजना रत्नाकरा भवन्ति । एतस्याग्नेरेव प्रभावेण रत्नानि निर्मीयन्ते इति शुक्रनीत्यादौ प्रसिद्धम् । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(रत्नधातमम्) रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधा अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम् ।

(म० भा० ऋ० १ । १ । १।। पदार्थः)

तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्, तद्विद्याधारकं वा । (महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम्)

(अथालंकारविवेचनम्)

अत्राह महर्षिः—

अत्र श्लेषालंकारेणोभयार्थग्रहणमस्तीति बोध्यम् ।

(म० भा० ऋ० १ । १ । १ ।। भावार्थः)

श्लेषालंकारः = अभङ्गशब्दश्लेषालंकार इत्यर्थः । तल्लक्षणमुच्यते—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥

भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

(काव्यप्रकाश ६ । ८४ ॥)

अस्यायमर्थः—वाच्यभेदेन अर्थभेदेन भिन्ना युगपद्भाषणमेकोच्चारणं स्पृशन्तीति युगपद्भाषणस्पृशः शब्दा यत् श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषो नामालंकारः। यथा—अग्निः=परमेश्वरः। अग्निः=भौतिकाग्निरिति वाच्यभेदेन भिन्नौ द्वौ अग्निशब्दौ अग्निरित्येकरूपतया भासमानौ श्लिष्यतः। अतो ऽत्र श्लेषालंकारः। असौ श्लेषो वर्ण--पद--लिङ्ग--भाषा--प्रकृति--प्रत्यय--विभक्ति--वचन भेदादष्टविधः सभङ्गश्लेषः। प्रकृत्यादिभेदरहितो नवमोऽभङ्गश्लेषोऽत्र मन्त्रे। अयमभङ्गश्लेषः शब्दालंकार इति मम्मटः।

अभङ्गश्लेषोऽर्थालंकार इत्यालंकारसर्वस्वकारादयो जगन्नाथश्च।

श्लेषे ह्यर्थद्वयस्यापि समकक्षता, उभयोरपि प्राकरणिकत्वात्।

आर्यभाषा

भौतिकार्थव्याख्या

अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्राय से किया जाता है—

हम लोग उपकार के लिये (अग्निम्+ईळे) भौतिकाग्नि की बार बार इच्छा करते हैं, उसको क्रियोपयोगी अर्थात् काम के योग्य बनाते है, उसको यानादि में प्रेरित करते हैं,उसके गुणों का वर्णन करते हैं, उसके गुणों का अन्वेषण करते हैं।

(ईड धातु के अनेक अर्थ)

ईड धातु के अनेक अर्थों के सम्बन्ध में हम पृष्ठ १९६ से १९९ तक प्रकाश डाल चुके हैं कि ईड धातु के ६ अर्थ हैं। १—स्तुति, २—प्रार्थना, ३—अध्येषणा=पुनः पुनः अर्थात् अत्यन्त इच्छा, ४—अध्येषणा=प्रेरणा, ५—अध्येषणा=गुणों का अन्वेषण, ६—पूजा। इन में से प्रार्थना और पूजा अर्थ भौतिकार्थ में उपयुक्त नहीं हैं। १—स्तुति करते हैं=भौतिकाग्नि के गुणों का वर्णन करते हैं। २—भौतिकाग्नि की व्यवहारविद्या के लिये अत्यन्त इच्छा करते हैं। ३—भौतिकाग्नि को यानादि में प्रेरित करते हैं। ४—भौतिकाग्नि के गुणों की खोज करते हैं। ये चार अर्थ भौतिक अर्थ में ग्राह्य हैं।

धातुपाठ में "ईड स्तुतौ" है अर्थात् ईड धातु का अर्थ स्तुति है। स्तुति=गुणों का वर्णन। और निरुक्त में "ईळिरध्येषणाकर्मा" है। अध्येषणा के तीन अर्थ हैं—

१—अध्येषणा=प्रेरणा

२—अध्येषणा=पुनः पुनः इच्छा

३—अध्येषणा=अन्वेषण—खोज

१—अधि उपसर्ग पूर्वक 'इष गतौ" धातु से णिजन्त से स्त्रीलिङ्ग में भाव अर्थ में युच् प्रत्यय करके टाप् करने पर अध्येषणा शब्द बनता है। इस का प्रेरणा अर्थ है
अधि+इष्+णिच्+युच्+टाप्=अध्येषणा।

२—दूसरा अध्येषणा शब्द अधि उपसर्ग पूर्वक 'इष इच्छायाम्' धातु से स्त्रीलिङ्ग भाव अर्थ में युच् प्रत्यय करके टाप् करने पर बनता है। इसका अर्थ है पुनः पुनः इच्छा और—

३—अन्वेषण=खोज।

प्रश्न—'इषेरनिच्छार्थस्य' (वा० ३।३।१०७) इस में इष धातु को युच् प्रत्यय होता है पर इच्छा अर्थ में नहीं। अतः प्रेरणा अर्थ में "इष गतौ" धातु से णिजन्त से

युच् प्रत्यय हो सकता है । परन्तु 'इष इच्छायाम्' इस धातु से युच् प्रत्यय नहीं हो सकता । अतः युच् प्रत्ययांत अध्येषणा शब्द का अर्थ इच्छा या खोजना नहीं हो सकता है ।

उत्तर—यह सत्य है परन्तु वैदिक साहित्य में अनिच्छार्थक भी पद का इच्छा अर्थ में प्रयोग देखा जाता है जैसे शतपथ ब्राह्मण में आता है कि—

उदङ् प्रयन्नाह—'अप इष्य होतः' इत्यप इच्छ होतरित्येवैतदाह ॥
(श० ब्रा० ३ । ६ । ३ । १५ ॥)

अर्थात्—(उदङ् प्रयन्) उत्तराभिमुख जाता हुआ (आह) अध्वर्यु कहता है कि (अपः इष्य होतः (तै०सं०६।४।३।३॥) हे होतः (अप इष्य=अप इच्छ) जलों के प्रति इच्छा कर । अर्थात् "प्र देवत्रा ऋ० १० । ३० ।" इस अपोन्नत्रीय प्रैष को बोल ।

यह 'इष्य' क्रिया जो इच्छार्थक नहीं है उस का इष्य=इच्छ यह इच्छा अर्थ शतपथ ब्राह्मण में किया है । इसी लिये सायणाचार्य शतपथ के भाष्य में लिखता है कि—

इष्यतेरिच्छतिरर्थ इति व्याचष्टे । (सायणाचार्यः)

अर्थात्—इष्य का इच्छा अर्थ यहां किया गया है ।

इस अध्येषणा शब्द का खोज अर्थ भी है । क्योंकि यह इच्छार्थक धातु अन्वेषण खोज अर्थ में भी आती है जैसा कि वाल्मीकिरामायण का प्रयोग है कि—

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
रक्षसाऽपहृता सीता तामिच्छन्ता विहागतौ ॥
(वा० रा० अरण्य ७० सर्ग १५ श्लोक)

अर्थात्—कवन्ध राक्षस से लक्ष्मण कह रहे हैं कि—देवताओं के तुल्य प्रभावशाली विजन वन में रहते हुए इन राम की सीता राक्षस ने हर ली है उसको इच्छन्तौ= ढूंढते हुए हम दोनों यहां आये हैं । यहां रामायण के टीकाकारों ने भी "इच्छन्तौ" का अर्थ ढूंढना ही किया है ।

इस प्रकार अध्येषणा शब्द के तीन अर्थ होते हैं— १—प्रेरणा । २—पुनः पुनः इच्छा । ३—ढूंढना ।

(अग्नि शब्द की भौतिक अर्थ में व्याख्या)

अग्नि शब्द के खण्डविभाग को पृष्ठ २०२ पर देखो । यास्क ने निरुक्त में अग्नि

शब्द के निर्वचन इस प्रकार दिखाये हैं कि—

अग्नि ! कस्मात् ··· ··· ··· अङ्गं नयति संनममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः न क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । इतात् अक्ताद् दग्धाद् वा नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते । गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नी परः ।

(निरुक्त ७ । १४ ॥)

अर्थात्—प्रश्न —(अग्निः कस्मात्) अग्नि शब्द किस से बनता है ।
उत्तर—(अङ्गं नयति संनममानः) अग्नि शब्द 'अङ्ग+नी' से बनता है ।

(संनममानः) किसी भी ओर झुकता हुआ उस को (अङ्गं नयति) अपने स्वरूप को जो प्राप्त करा लेता है उस को अङ्ग+नी=अग्नि कहते हैं ।

(स्थौलाष्ठीविः) स्थूलाष्ठीव का पुत्र आचार्य यह मानता है कि (अक्नोपनो भवति न क्नोपयति न स्नेहयति) जो चिकना नहीं करता प्रत्युत रूखा कर देता है उस को नञ्+क्नूय्=अक्नू=अक्नि=अग्नि कहते हैं । शब्दकल्पद्रुम में 'क्नूय' धातु के तीन अर्थ दिये हैं—

'क्नूयीङ्[1] दुर्गन्ध आर्दवे शब्दे' (शब्दकल्पद्रुम)

क्नूय् धातु के तीन अर्थ हैं—

१—दुर्गन्ध करना । २—गीला करना । ३—शब्द करना । जैसे—क्नूयते मत्स्यः=मछली दुर्गन्ध फैला रही है । क्नूयते वस्त्रमम्भसा=जल से वस्त्र गीला हो रहा है । प्रक्नोपयन्तं मुरलीम्=बांसुरी बजाने वाले (श्रीकृष्ण को) । पर धातुओं के अनेक अर्थ होने से इस 'क्नूय्' धातु का अर्थ चिकना करना यहां है ।

शाकपूणि निरुक्ताचार्य कहते हैं कि अग्नि शब्द तीन धातुओं से बनता है । १—इण । २—अञ्जू । णीञ् । और—१—इण । २—दह । ३—णीञ् । इण्+अ अञ्जू+ग, णीञ्+नि । और इण्+अ, दह+ग । णीञ्+नि । इण धातु के 'अयनम्' आदि शब्दों में 'अ' होना है । दह धातु से बने 'दग्धम्' आदि शब्दों में 'ग्' हो जाता है । 'अञ्जू' धातु के 'अक्तम्' आदि शब्द बनते हैं वह ककार गकार हो कर अग्नि शब्द में है । नि णीञ् धातु का है इस प्रकार वे अग्नि शब्द बने हैं ।

य एति=जो गतिशील है उस को अग्नि कहते हैं ।
यो दहति=जो जलाता है उस को अग्नि कहते हैं ।
यो ऽनक्ति=जो रूपों को प्रकट करता है उस को अग्नि कहते हैं ।

१—ङ अनुबन्ध आत्मनेपदी यह धातु है बताने के लिये है ।

यो नयति=जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाता है उसको अग्नि कहते हैं। ये गुण भौतिक अग्नि में हैं अतः इस प्रकार बना अग्नि शब्द भौतिकाग्नि का वाचक है।

वैदिक शब्द विशेष अर्थों के वाचक होते हुए भी धात्वर्थ को लेकर विशेषण रूप से भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि
स इद् देवेषु गच्छति। (ऋ० १।१।४॥)

अर्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर आप (विश्वतः) सर्वत्र व्याप्त होकर (यम्) जिस (अध्वरम्) हिंसादि दोष रहित[1] (यज्ञम्) यज्ञ को (परिभूः असि) सब प्रकार से पालन करने वाले हैं (स इत्) वही यज्ञ (देवेषु) विद्वानों के बीच में (गच्छति) फैल के जगत् को सुख देता है।

इस मन्त्र में 'यज्ञ' और 'अध्वर' दोनों शब्द यज्ञ के वाचक हैं इन में से एक को विशेषण बनाना पड़ेगा। (अध्वरं+यज्ञम्) हिंसादि दोष रहित यज्ञ को। इसी रीति से अग्नि शब्द भी बहुत स्थानों पर विशेषण के रूप से भी प्रयुक्त है और धात्वर्थ को ले कर अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। विशेषण रूप में प्रयुक्त जैसे—

अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः। (ऋ० ।१०५।१४॥)

अर्थ—(अग्निः) श्रेष्ठ विद्या को जानने वा समझाने वाला (मेधिरः) बुद्धिमान् (देवेषु देवः) विद्वानों में प्रशंसनीय विद्वान् (हव्या) देने योग्य पदार्थों को (सुषूदति[2]) देता है। यहां अग्नि शब्द विशेषण है और देव शब्द विशेष्य है।

धात्वर्थ को लेकर अर्थान्तर में प्रयुक्त जैसे—

(अग्निः) न्यायमार्गे गमयिता विद्वान्। (ऋ० म० भा० १।१०७।३॥)

वेदों में एकार्थवाचक अनेक शब्द एक ही वाक्य में आते हैं इस से स्पष्ट है कि इन में से एक विशेषण है दूसरा विशेष्य जैसे—

१—सायणाचार्य को भी यज्ञवाचक दोनों शब्दों में से एक शब्द अध्वर को विशेषण मानना पड़ा है।

(अध्वरम्) हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति। (सायण ऋ० १।१।४)

२—"षूद क्षरणे" धातुः। लेट्। शपः श्लु। ततो धातोर्द्वित्वम्।

१—यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्[1]। (ऋ० १०।६०।९॥)
२—अश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः[2] (ऋ० ७।७।१॥)
३—शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः[3]।
(ऋ० ४।१।६॥)

(एक शब्द के अनेक निर्वचन)

यहां भौतिकाग्नि अर्थ में जो अग्नि शब्द के अनेक निर्वचन दिखाए हैं उन सब का अर्थ एक ही प्रकार की भौतिकाग्नि नहीं प्रत्युत नाना प्रकार की अग्नियां तथा अन्य पदार्थ एक एक निर्वचन के समझने चाहिये। जिन का विस्तृत विवेचन पदार्थप्रदीप में किया जावेगा।

(अग्नि के गुण)

महर्षि ने वेदभाष्य में अग्नि के नीचे लिखे गुण बताए हैं देखो पृष्ठ २५४।

रूप। दाह। प्रकाश। वेग। छेदन। ऊर्ध्वगामित्व=ऊपर को गति वाला होना। भास्करत्व=चमक। ये ही अग्नि के गुण वेद में बताए गए हैं—

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा। (यजु० १८।५०॥)

इस मन्त्र में अग्नि के पांच नाम बताए हैं—

१—घर्मः। २—अर्कः। ३—शुक्रः। ४—ज्योतिः। ५—सूर्यः। इस मन्त्र की यह व्याख्या शतपथ में की है—

यद्वेवाह स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहेत्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि।
(शत० ब्रा० ९।४।२।२५॥)

१—यहां 'पृथिवी' और 'मही' दोनों शब्द भूमिवाचक हैं। अतः सायण भाष्य के दोनों हस्तलेखों में यह पाठ भी है कि—मही महती पृथिवी (सायण)। अर्थात् 'मही' शब्द का अर्थ 'महती' है।

२—यहां 'वाजी' और 'अश्व' दोनों शब्दों का अर्थ घोड़ा है पर एक को विशेषण सायण को भी बनाना पड़ा है। वाजिनं वगवन्तं वलवन्तं वा (सायण) अर्थात् यहां वाजी का अर्थ बलवान् है।

३—यहां 'अघ्न्या' और 'धेनु' दोनों शब्दों का अर्थ गौ है अतः एक शब्द को सायण ने भी विशेषण बनाया है। अघ्न्याया अहन्तव्याया (सायण) अर्थात् यहां 'अघ्न्या' का अर्थ है जो मारने योग्य नहीं है।

अर्थात्—जो यह कहा है कि 'स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः' ये सब अग्नि के नाम हैं। इन नामों की व्याख्या इस प्रकार है—

१—घर्मः—'घृ प्रक्षरणदीप्त्योः' धातु से मक् प्रत्यय होने पर घर्म शब्द बनता है। प्रक्षरण=टपकना, दीप्तिः=प्रकाश। जिघर्ति प्रक्षरति स्वेदः शरीराद् अनेनेति घर्मः= जिसके द्वारा शरीर से पसीना निकलता है उस को घर्म कहते हैं अर्थात् आतप= गर्मी। यह दाह गुण अग्नि में है। जिघर्ति दीप्यते प्रकाशं ददाति यः स घर्मः=जो प्रकाश देता है उसको भी घर्म कहते हैं। यह प्रकाशगुण अग्नि में है।

२—अर्कः—"ऋ गतिप्रापणयोः" धातु से क प्रत्यय होने पर अर्कः शब्द बनता है जैसे कृ धातु से कर्कः बनता है। गतिः=ज्ञान गमन प्राप्ति। प्रापण=पहुंचाना। यः ऋच्छति प्रापयति सः अर्कः। यो हि गतिमान् वेगवानित्यर्थः=जो गतिमान् अर्थात् वेगवान् हो अपने वेग से स्थानान्तर पर जो पहुँचाने वाला है उस को अर्कः कहते हैं। यह वेगगुण अग्नि में है।

३—शुक्रः—शुक शब्द में र को ल होकर शुक्ल शब्द बनता है। शुक्ल=श्वेत= भास्कररूप=चमक। यह गुण अग्नि में हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण में लिखा है कि—

तस्माच्छुक्लं पवित्रं शुक्रः सोमः स शुक्लत्वाय। (ताण्ड्य० ६। ६। ६॥)

अर्थात्—दशापवित्र=सोम छानने का छन्ना शुक्ल होता है। सोम भी शुक्र है अर्थात् शुक्ल। शुक्र शब्द ही शुक्ल हो जाता है।

४—ज्योतिः—'द्युत दीप्तौ' धातु से इसिन् प्रत्यय करने पर और धातु के द को ज करने पर ज्योतिः शब्द बनता है। दीप्तिः=तेज। इसी लिये कहा है कि—

अग्निर्वा अरुपः। (तै० ब्रा० ३। ६। ४। १॥)

तेजो वा अग्निः। (तै० ब्रा० ३। ३। ४३॥)

अर्थात्—अग्नि चमकता हुआ तेज है।

५—सूर्यः—'षू प्रेरणे' धातु से "राजसूयसूर्य० (शब्दानु० १।३।११४॥) सूत्र से क्यप् प्रत्यय और रुट् का आगम निपातित है। सुवति प्रेरयतीति सूर्यः= जो गति देता है उस को सूर्य कहते हैं। यह गुण अग्नि में है।

(अग्नि के रूप=कार्य)

अग्नि के आठ रूप बताये गये हैं—

तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि ।   (शत० ब्रा० ६ । १ । ३ । १८ ॥)

अर्थात्—अग्नि के आठ रूप हैं। १—रुद्रः। २—शर्वः। ३—पशुपति। ४—उग्रः। ५—अशनि। ६—भवः। ७—महान् देवः। ८—ईशानः। जिन जिन कार्यों को यह अग्नि करता है वे इस के रूप कहाते हैं जैसे—

रौद्रो वै प्रतिहर्ता।   (गो० ब्रा० ३ । १९ ॥)

अर्थात्—यह अग्नि प्रतिहर्ता=छेदन भेदन कर्ता है। अतः महर्षि ने ठीक लिखा है कि—

भौतिकस्य रूप दाह प्रकाश वेग छेदनादिगुणत्वात् शिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृतमस्तीति वेद्यम्। (ऋ० १ । १ । १ । भाष्य भावार्थः)

अर्थात्—भौतिक अग्नि में रूप दाह प्रकाश वेग छेदन आदि गुण और शिल्पविद्या के मुख्य साधक आदि हेतुओं से प्रथम मन्त्र में भौतिक अर्थ के रूप में भी ग्रहण किया गया है। क्योंकि अग्नि के विना सर्वोत्तमशिल्पविद्या का कार्य नहीं हो सकता है। अतः कहा है कि—

सोऽग्निमब्रवीत्। त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि त्वं प्रथमो वृणीष्वेति।
(जै० उ० १ । ५१ । ५६ ।)

अर्थात्—प्रजापति अग्नि से कहते हैं कि जिन जिन पदार्थों को मैंने पैदा किया है वे सब मेरे पुत्र के समान हैं उन में तू सब से ज्येष्ठ है मुख्य है।

महर्षि ने अपने भाष्य में जो यह कहा है कि—

आर्यैर्याऽश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः शिल्पविद्या संपादितेति श्रूयते साऽग्निविद्यैवासीत्। (ऋ० १।१।१ भाष्य भावार्थ)

अर्थात्—यह जो सुना जाता है कि आर्यों ने शीघ्र गति वाली अश्वविद्या का आविष्कार किया था वह अग्निविद्या ही थी। उस का वर्णन वेद में है जैसे—

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः।
तं हविष्मन्त ईळते ॥   (ऋ० ३ । २ । १४ ॥)

अर्थ—जब शिल्पी लोगों के द्वारा (अग्निः) यह भौतिकाग्नि (समिध्यते) सम-

कलाओं द्वारा यानों में प्रदीप्त किया जाता है तब यह अग्नि (वृषा[1]+उ) बैल के समान और (अश्वः[1] न) घोड़े के समान (देववाहनः) विद्वानों को शीघ्र देशान्तर में पहुँचाने वाला होता है। (तम्) उस अग्नि को (हविष्मन्तः) देने और लाने योग्य पदार्थों से अत्यन्त युक्त[2] मनुष्य (ईडते) तत्तत्कार्यार्थ बार बार चाहते हैं।

अग्नि शब्द का भौतिकाग्नि अर्थ भी है इस सम्बन्ध में ब्राह्मण प्रमाण पृष्ठ २५७ पर देखो।

(यज्ञस्य होतारम्+यज्ञस्य देवम्)

वह भौतिकाग्नि यज्ञ का होता है और यज्ञ का देव है उसको हम बारम्बार चाहते हैं इत्यादि।

(यज्ञस्य) शिल्पविद्यादिदान के (होतारम्) देने वाले अग्नि को। (देवम्) उस के प्रकाशक अग्नि को। यज्ञ शब्द का दान अर्थ है। यह यज्ञ शब्द "यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु से बनता है। (यज्ञस्य) शिल्प क्रियाओं से उत्पन्न होने योग्य पदार्थों के (होतारम्) देने वाले अग्नि को और (देवम्) उन के प्रकाश करने वाले अग्नि को। यह यज्ञ शब्द—'यन्+जन्' से भी मिल कर बनता है। यन्=शिल्पक्रियां प्राप्नुवन् जातः=उत्पन्नः। अर्थात् शिल्पक्रिया को प्राप्त होता हुआ जो पैदा हुआ। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है कि—

स यन् जायते तस्माद् यज्ञः। यज्ञो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः।
(शत० ३।६।४।२३॥)

अर्थात्—इण् धातु से शतृ प्रत्यय होने पर यन् बनता है यन्=प्राप्त होता हुआ जो जातः=पैदा हुआ। 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से ड प्रत्यय होकर 'यन् जः' बना है। यन्+जः। यज न् अः=यज्ञः। (यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य = अनेक प्रकार की शिल्पक्रियाओं से जो उत्पन्न होता है उस पदार्थ समूह के।

(यज्ञस्य) शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य=शिल्पविद्यादिक्रियाभिः=अनेक प्रकार की शिल्पविद्यादि क्रियाओं से अर्थात् उस के अनुभवों से जन्यः=उत्पन्न जो बोध=ज्ञान उस के संगतस्य=तद्रूप संगतिकरण रूप शिल्पविद्यादिमय यज्ञ के। यह यज्ञ शब्द संगतिकरण अर्थ वाले यज धातु से भी बना है।

१—बैल की उपमा बोझा अधिक ढोने के लिए है और घोड़े की उपमा शीघ्र गति के लिए है।

२—व्यापारार्थ जब मनुष्य देशान्तर जाता है तब कुछ पदार्थ वहाँ बेच कर आता है और कुछ लेकर आता है। 'हु दानादनयोः' हु धातु देने और लेने दोनों अर्थों में है इस धातु से हवि शब्द बनता है।

(पुरोहितम्).

पुरोहित है इस को हम बारम्बार इच्छा करते है इत्यादि ।

(पुरोहितम्) पुरः=पुरस्तात्=उन पदार्थों के उत्पन्न करने के समय से पूर्व भी दधाति=छेदन धारण और आकर्षण आदि गुणों के धारण करने वाले अग्नि को।

(पुरोहितम्) विमान कला कौशल क्रियाप्रचालनादिगुणम्=विमान—वायुयान, कला—गीत वाद्य नृत्य आदि, कौशल—शीघ्र कार्य कराना, क्रिया—चक्रादिवत् गति, प्रचालन—यानों का चलाना आदि गुण रूप (एवं शिल्पविद्यामयम्) उपर्युक्त शिल्पविद्यास्वरूप को प्रयोग से पूर्व ही धारण करने वाले अग्नि को । (पुरोहितम्) सब विद्याओं के प्रथम हेतु अग्नि को।

विमान शब्द की व्याख्या विमानशास्त्र में इस प्रकार की है कि—

विमानो वेगसाम्यादण्डजानामिति । (वि० शा० १ । १ ॥)

(अण्डजानाम्) पक्षियों के (वेगसाम्यात्) वेग की समानता से वायुयान का नाम विमान रखा गया है । अर्थात् जो यान पक्षियों की गति को अपनी गति से तुल्य माप दे । जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है वैसे जो यान आकाश में उड़े उस को विमान कहते हैं । वेद में भी वायुयान के उड़ने की उपमा पक्षी से दी गई है जैसे—

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषणा वातरंहाः ॥

(ऋ० १ । ११८ । १ ॥)

अर्थ—(वृषणौ) हे बलवान् (अश्विनौ) अश्वियों=शिल्पविद्या जानने वाले स्त्री पुरुषों (वाम्) तुम दोनों का (यः) जो (रथः) रथ (त्रिबन्धुरः[1]) जिस में सारथि के बैठने के तीन स्थान हैं नीचे ऊपर और बीच में । (श्येनपत्वा) बाज पक्षी के समान गति वाला है (वातरंहाः) वायु के समान वेग वाला (मर्त्यस्य मनसो जवीयान्) मनुष्य के मन से भी तेज गति वाला है। (सुमृडीकः) सुख से जिस में यात्रा की जा सकती

१—बन्धुर = सारथि के बैठने का स्थान । यथा महाभारते—

अन्ये छत्रं वरुथं च बन्धुरं च तथाऽपरे ॥
गन्धर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन् रथम् ॥

अर्थ—हजारों संख्या वाले गन्धर्वों ने रथ के टुकड़े टुकड़े उड़ा दिये किन्हीं ने छत्र तोड़ दिया किन्हीं ने वरुथ = छत्र के ऊपर के भाग को तोड़ दिया अन्यों ने बन्धुर = सारथि के बैठने के स्थान को नष्ट कर दिया ।

है (रयिवान्) धन तथा आत्मीय जन जिस में विद्यमान हैं। वह रथ (अर्वाङ्, हमारी ओर नीचे (आ यातु) आवे।

भरद्वाजनिर्मित विमानशास्त्र के व्याख्याकार विश्वम्भर ने लिखा है कि—

देशाद् देशान्तरं तद्वद् द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा ।
लोकाल् लोकान्तरं चापि योऽम्बरे गन्तुमर्हति ।
स विमान इति प्रोक्तः खेटशास्त्रविदां वरैः ॥

अर्थ—विमान उस को कहते हैं जो एक देश से दूसरे देश को, एक द्वीप से दूसरे द्वीप को और एक लोक से दूसरे लोक को आकाश मार्ग से लेजाने में समर्थ हो। खेटशास्त्रविद्[1] =खेटशास्त्र = विमान शास्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ आचार्यों[2] का मत है।

(ऋत्विजम्)

वह भौतिकाग्नि ऋत्विज् है उस को हम अत्यन्त चाहते हैं इत्यादि।

(ऋत्विजम्) ऋतौ ऋतौ = सब ऋतुओं में तदनुसार यजति = सर्वशिल्प-साधनानि संगमयति तम् = सब शिल्पसाधनों को जो जुटाता है उस अग्नि को। इस लिये अयोध्या को "सर्वर्तुसुखामयोध्याम्" कहा है। अयोध्या में शिल्पसाधनों के द्वारा सब ऋतुओं में सुखपूर्वक लोग रहते थे। शीत में शीत नहीं गर्मी में गर्मी नहीं इत्यादि।

(ऋत्विजम्) ऋत्विक् के समान अग्नि को। जैसे ऋत्विक् यज्ञ के समय सब यज्ञीय साधनों को जुटाता है इसी प्रकार अग्नि भी प्रत्येक ऋतु में सब शिल्पसाधनों को देता है।

(रत्नधातमम्)

वह अग्नि रत्नधातम है उस को हम चाहते हैं इत्यादि।

(रत्नधातमम्) रत्नानि = सुवर्ण आदि रत्नों को दधाति[3] = जो देता है उस को 'रत्नधा' कहते हैं और जो रत्नों को अत्यन्त देता है उस को 'रत्नधातम' कहते हैं ऐसे अग्नि को। तथा अग्निविद्या जानने वाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त पुष्ट करता है उस

१—खे = आकाश में अटति = चलता है उस को खेट = विमान कहते हैं।

२—भरद्वाज रचे विमानशास्त्र से पूर्व भी 'विमान चन्द्रिका' 'व्योमयानतन्त्र' 'यन्त्रकल्प' 'यानविन्दु' 'खेटयानप्रदीपिका' 'व्योमयानार्कप्रकाश' ग्रन्थ थे।

३—कविकल्पद्रुम में 'धा' धातु के तीन अर्थ दिये हैं १—धारण, २—पोषण, ३—दान।

अग्नि को। अथ च रत्न शब्द से रत्नविद्या का ग्रहण है उस रत्नविद्या का जो आधार[1] है उस अग्नि को।

(रत्नधातमम्) रत्न = रमण करने के जो पृथिवी आदि स्थान हैं उन को परमेश्वर धारण करता है। (आध्यात्मिक अर्थ में)

यहां पर भौतिकाग्नि परक ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या आर्यभाषा में समाप्त हुई अब दोनों अर्थ करने के कारण अलंकारों पर विचार किया जाता है।

(अलङ्कार विवेचन)

महर्षि ने लिखा है कि इस मन्त्र में श्लेषालंकार है अत: आध्यात्मिक और भौतिक दोनों अर्थ इस मन्त्र के हैं।

(श्लेषालंकार का लक्षण)

जिन शब्दों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं पर आकृति एक जैसी है वे शब्द समान उच्चारण के कारण जहां परस्पर मिले होते हैं उस को श्लेषालङ्कार कहते हैं। जैसे अग्+नि—अग्नि: = परमेश्वर और अ+ग्+नि—अग्नि: = भौतिक अग्नि। दोनों अग्नि शब्दों के अर्थ पृथक् पृथक् हैं पर आकृति एक जैसी है अत: **"अग्निमीळे पुरोहितम्"** मन्त्र में श्लेषालंकार है। अग्नि के विशेषण भी सब श्लिष्ट हैं।

यह श्लेषालंकार ९ प्रकार का है—

१—वर्णश्लेष। २—पदश्लेष। ३—लिङ्गश्लेष। ४—भाषाश्लेष। ५—प्रकृतिश्लेष। ६—प्रत्ययश्लेष। ७—विभक्तिश्लेष। ८—वचनश्लेष। ९—अभङ्गश्लेष।

इस मन्त्र में अभङ्गश्लेष अलङ्कार है। पूर्वोक्त आठ भेदों को सभंगश्लेष कहते हैं क्योंकि उन श्लेषों में पदों को भिन्न भिन्न रूप से विश्लेषण करना पड़ता है। जैसे वर्णश्लेष में—विधि सप्तमी एक वचन में विधौ और विधु सप्तमी एक वचन में भी विधौ बनता है। इ उ का श्लेष है। पर अग्निम् = परमात्मानम्। अग्निम् = भौतिकाग्निम्। यहां दोनों अग्निम् का समान रूप से निर्देश है अत: यहां अभङ्गश्लेष नामक नवम् श्लेष है। इन दोनों 'अग्निम्' में स्वरादि का भी कोई भेद नहीं है।

इस मन्त्र में अग्निम् के भी दो अर्थ हैं और 'अग्निम्' के विशेषणों के भी दो दो अर्थ हैं। जहां विशेषणों के ही दो अर्थ होते हैं पर विशेष्य के दो अर्थ नहीं होते वह

१—शुक्रनीति आदि में यह बात बताई गई है कि इस अग्नि के प्रभाव से रत्नों का निर्माण होता है।

'समासोक्ति' अलंकार होता है। और जहां विशेषण और विशेष्य दोनों शिलष्ट दीखते हों पर प्रकरण आदि के द्वारा एक ही अर्थ हो सकता हो वहां दूसरा अर्थ अभिलामूल व्यञ्जना से होता है। इस मन्त्र में दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं अतः यहां लब्दश्लेष अलंकार है। इस मन्त्र में आए 'अग्निम्' आदि शब्दों के पर्यायवाचक शब्द वह्नि या परमेश्वर रख देने पर अलङ्कार नहीं बन सकता। इन्हीं शब्दों के रहने पर अलंकार रह सकता है अतः यह श्लेषालङ्कार शब्दश्लेषालङ्कार है अर्थालङ्कार नहीं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २६०, २६१ पर देखो।

यह अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार है शब्दालङ्कार नहीं। ऐसा अलङ्कार सर्वस्वकार और पण्डितराज जगन्नाथ मानते हैं। परन्तु मम्मट इस अभङ्गश्लेष को शब्दालङ्कार मानते हैं।

(अथ ऋषि-दैवत-छन्दः-स्वर-ब्राह्मण-मीमांसा)

महर्षिणा स्ववेदभाष्ये सर्वत्र सूक्तस्य ऋक्संख्या ऋषिदैवतच्छन्दांसि षड्जादयः स्वराः मन्त्रभूमिकारूपं ब्राह्मणं च प्रदर्शितानि । तथा चोक्तमन्यत्र ।

ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥

(अथ ऋषिमीमांसा)

अत्राह कात्यायनः सर्वानुक्रमण्याम्—

अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ।   (ऋ० सर्वा०)

अस्यायमर्थः—अग्निमिति सूक्तस्य मन्त्रप्रतीकम् । नवेति ऋक्संख्या । अग्निमीळे० इति सूक्ते नव ऋचः सन्तीत्यर्थः । ऋषिश्च वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः । विश्वामित्रस्य गोत्रापत्यं वैश्वामित्रः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (शब्दानु० ४।१।११४) इति विश्वामित्रशब्दादपत्यार्थे गोत्रेऽण् । महर्षिस्तु ऋषिः मधुच्छन्दा इत्येवाह न तु वैश्वामित्रः । नवममण्डलस्य प्रथमसूक्तस्य च मधुच्छन्दा ऋषिः । अयं मधुच्छन्दा ऋषिर्द्वादशाधिकशत (११२) ऋचामर्थद्रष्टा । अतएवायं शतर्चि इत्युच्यत । तत्साहचर्यात् प्रथममण्डलस्यार्थद्रष्टारः सर्वे ऋषयः शतर्चिन इत्युच्यन्त इत्युच्यते । अत उक्तम्—

शतर्चिसंज्ञा विज्ञेया ह्याद्यमण्डलदर्शिनः ।
ददर्शादौ मधुच्छन्दा द्व्यधिकं यदृचां शतम् ॥
तत्सहाचर्यादन्येऽपि विज्ञेयास्तु शतर्चिनः ।
अच्छत्राश्छत्रिणैकेन यथा वै छत्रिणोऽभवन् ॥

अत्र द्व्यधिकं यदृचां शतमित्युक्तं तत् प्रथममण्डलाभिप्रायेण । प्रथमे मण्डले आदितो दशसूक्तानां मधुच्छन्दा ऋषिः । तत्र द्व्यधिकं शतमृचः । नवममण्डलस्य प्रथमसूक्तस्यापि मधुच्छन्दा ऋषिस्तत्र च दशऋचः । एवं द्वादशाधिकशतऋचानां द्रष्टाऽयमृषिरित्युक्तम् । एत ऋषयश्च मन्त्रार्थद्रष्टारो न तु मन्त्रकर्तारो वा मन्त्रद्रष्टारो वा ।

उक्तं च महर्षिणा—

येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः । यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात् तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामोल्लेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः ।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका श० सं० भा० २ पृ० ६८६)

अत्रेदमप्यवबोद्धव्यम्—यैः सर्वप्रथमं यस्य मन्त्रस्य प्रचारोऽध्यापनं तेन कर्म न प्रथमं कृतं त एते मन्त्रार्थद्रष्टार ऋषय उच्यन्ते । इत्यादिकं सत्यार्थप्रकाशे[1] महर्षिणा प्रतिपादितम् ।

तथा चोक्तम् ऋग्विधाने—

ऋग्वेदाद्यस्य सूक्तस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ।

यथा ऋषिर्मधुच्छन्दा कर्मैतेनाकरोत् पुरा ॥ (ऋ० १।७६॥)

मधुच्छन्दा ऋषिः एतेन 'अग्निमीळे०' सूक्तेन कर्म पुरा प्रथममकरोत् न तु मन्त्रं कृतवान् दृष्टवान् वा । पुरा=सर्वप्रथममित्यर्थे । यथा—

"आलोके ते निपतति पुरा[2]" (मेघदूत उत्तरमेघ २२)

अत्र केचिदाहुः—ऋषयो मन्त्रकर्तार[3]ः । अपर आहुः करोतिर्धातुर्दर्शनार्थः[4] । ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति । महर्षिस्त्वाह मधुच्छन्द आदय ऋषयो न मन्त्रकर्तारो नापि मन्त्रद्रष्टारः । एते हि मन्त्रार्थद्रष्टारः । उक्तं हि निरुक्ते—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । (निरु०)

अत्र हि मन्त्रार्थद्रष्टृत्वमभिप्रेतं न तु मन्त्रदृष्टृत्वम् । 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति हि पूर्वतोऽनुक्रान्तम्[5] । मन्त्रकृत ऋषयः इत्यत्र करोतिधातुः प्रयुक्तार्थो

१—सत्यार्थप्रकाश श० सं० भाग १ पृ० ३१८ ॥

२—पुरा, व्य, पुरति अग्रे गच्छतीति । पुर + वाहुलकात् का । इतिशब्दकल्पद्रुमः । at first, in the first, Place, इत्याप्टे । at first, in the beginning इति मोनियर विलियम ।

आरम्भ गुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् इति भर्तृहरिः नीति० ६० ।

३—नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः । (तै० आ० ४।११॥)

४—दर्शनमेव कर्तृत्वम् । भट्टभास्करः तै० आ० ४।११॥

५—'निरुक्त के समझने में प्राचीन आचार्यों की भूल' इत्याचार्यकृते ग्रन्थे विस्तरतः प्रतिपादितम् ।

धातूनामनेकार्थत्वात् । यथा चर्मकारः सुवर्णकार इत्यादयः । नहि चर्मकारैः सुवर्णकारैर्वा चर्मादिकं निर्मीयते । प्रयुज्यते हि तैः केवलम् । करोतिधातुः प्रयोगार्थे वर्तते यथाऽऽह स्कन्दः—

तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिकयश्च ।
(निरु० ७ । २ ॥)

करोतिः क्रियासामान्यवचनत्वात् विशेषं लक्षयन् प्रयुक्तेरर्थे द्रष्टव्यः । कृताः प्रयुक्ताः ।
(स्कन्द निरु० ७ । २ ।)

तन्त्रवार्तिकेऽप्युक्तम्—

मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः ।

अथ च भवन्ति मन्त्रकर्तारोऽपि ऋषयः । ते तु गृह्यादिमन्त्राणां कर्तारो भवन्ति न वेदमन्त्राणाम् । यथा—

"अयन्त इध्म आत्मा जातवेदः०" इत्यादिमन्त्राणां कर्तार ऋषय अथवा महर्षिरपि 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' इत्यादिमन्त्राणां कर्ता । तथा चोक्तं तेनैव—

'इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः'[1]
(ऋग्वेदादि० श० सं० भा० २ पृ० ४२)

यदि वेदमन्त्राणामपि ऋषय एव कर्तारः स्युस्तदा कथमेकस्यैव मन्त्रस्य ऋग्वेदादिभेदेन भिन्ना ऋषयः । यथा—

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चतीर्मधुना पयः ।
(ऋ० १ । २३ । १६, अथर्व १ । ४ । १)

अत्र ऋग्वेदस्थस्यास्य मन्त्रस्य मेधातिथिः काण्व ऋषिः । अथर्ववेदस्थस्यास्य मन्त्रस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः नह्येकस्य काव्यस्यानेके कवयो भवन्ति । मन्त्रार्थद्रष्टृदृष्ट्या तु संगच्छते । चतुर्विंशत्यृचस्य विशिष्टप्रकरणस्यास्य ऋग्वेदसूक्तस्य मन्त्रार्थद्रष्टा मेधातिथिः काण्वः । चतुर्ऋचस्य प्रकरणान्तरस्थस्याथर्ववेदसूक्तस्य सिन्धुद्वीपो मन्त्रार्थद्रष्टा ।

१—आचार्यकृतायां यज्ञपद्धतिमीमांसायां विस्तरतो व्याख्यातम् ।

ननु मन्त्रार्थद्रष्टा इति नवीनमुच्यते । सर्वत्र कर्ता स्तोमानाम् । स्तोमान् ददर्श । इत्यादिषु मन्त्रकर्तारो मन्त्रद्रष्टारो वा ऋषयः श्रूयन्ते नतु मन्त्रार्थद्रष्टारः ।

शृणु—

१—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' (निरुक्त)

अत्र धर्मशब्देनार्थोऽभिप्रेतो न तु मन्त्र इत्युक्तं प्राक् ।

२—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम् । (न्याय० वात्स्यायन २ । १ । ६८ ॥)

३—ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः । (बौद्धायन धर्मसूत्रभाष्ये गोविन्दस्वामी २।६।३६)

४—ऋषिर्मन्त्राणां व्याख्याता । (उवट यजु० ७ । ४६ ॥)

५—निरुक्ते प्रतिपादितम्—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् । को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळम् । (निरु० १३ । १२ ॥)

अस्यायमर्थः—मनुष्या ऋषिषु उत्क्रामत्सु स्वर्गतेषु देवान् वेदज्ञान् अब्रुवन्-अपृच्छन् अधुना क ऋषिः । ते वेदज्ञास्तेभ्यो मनुष्येभ्यस्तर्कमृषिं प्रायच्छन् ददुः । मन्त्रार्थस्य चिन्ता विचारस्तत्र अभ्यूळम् अन्तःपातितम् अभ्यूहं स्फुरणरूपम् । ऋषिस्थानापन्नस्तर्को मन्त्रार्थबोधको न तु मन्त्रकर्ता मन्त्रद्रष्टा वा भवति । तस्माद् ऋषयो मन्त्रार्थद्रष्टार इति सुस्थम् ।

६—'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः' इत्यत्र मन्त्रेषु दृष्टिर्दर्शनं साक्षात्कारोऽर्थस्य येषां ते मन्त्रदृष्टय ऋषय इति व्याख्येयम् ।

७—अपि चोक्तं निरुक्ते—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।

(निरु० १० । १०, ४६ ॥)

अस्यायमर्थः—दृष्टार्थस्य दृष्टः साक्षात्कृतः अर्थो मन्त्रार्थो येन तस्य मन्त्रार्थसाक्षात्कर्तुः ऋषेः आख्यानसंयुक्ता प्रीतिर्भवति । ते ह्यृषयः कंचिदाख्यानं पुरस्कृत्य तं मन्त्रं व्याख्यान्ति इत्यत्र तेषां प्रीतिः । यथा—'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु' इति भर्तृहरिकृतश्लोकव्याख्याने कश्चिद् दयानन्दसरस्वतीस्वामिनं आख्यायेत ।

तथैव 'स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु' (ऋ० ८।४।१९॥)

अत्राह यास्कः—'कुरुङ्गो राजा बभूव' (निरु० ६।२२॥)

अस्यायमर्थः—कुरुङ्गस्य शत्रुकुलगामिनो राज्ञो दिविष्टिषु द्यौः स्वर्ग इष्यते गम्यते इष्यते वा याभिः क्रियाभिः तासु दिविष्टिषु क्रियासु स्वर्गप्राप्तिहेतुषु युद्धेषु सत्सु। तथा चोक्तं वेदे—"ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः" अथर्व (१८।२।१७॥) इति शताश्वं शतेनाश्वैर्युक्तं राधो धनमित्यादि। कुरुङ्गः शत्रुकुलगामी राजा युद्धे धनं लभत इत्यभिप्रायः। "कुलगमनात्" इति यास्कः (६।२।२।) "शत्रुकुलानि हि स नित्यमेव याति विजेतुम्" इति दुर्गः। तत्र वेदशब्दादेव केनचित् स्वपुत्रस्य कुरुङ्ग नाम धृतम्। सः कश्चित् राजा कुरुङ्गनामा बभूवापि इत्येव यास्कस्याभिप्रायः "अत आह कुरुङ्गो राजा बभूव" एवं 'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्०' (ऋ० १०।९८।५॥) इत्यत्र यास्कप्रदर्शिता देवापिशन्तनुकथा ज्ञेया। सर्वत्र दृष्टार्थस्य ऋषेराख्यानयुक्ता प्रीतिरेव कारणम्। "इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्" (महा० आदि० १।२६७॥) इत्यादिकमपि तथैव ज्ञेयम्। तस्माद् ऋषयो मन्त्रार्थद्रष्टार इति सिद्धं भवति।

ये तु मन्त्रद्रष्टार ऋषयस्ते तु सर्गादौ अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोनामानो बभूवुः। तथा चोक्तम्—

तेभ्यो[1]ऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्०। (ऐतरेय ब्रा० २५।३३॥)

एते हि ऋषयो निर्मला जन्मतः शुद्धाः अमैथुनिसृष्टौ सर्गादावुत्पन्नत्वात् न ते मातृगर्भाज्जायन्ते। अतः साधारणजन्मप्रकारशून्यत्वात् अजा इत्युच्यन्ते। तथा चोक्तं तैत्तिरीयारण्यके—

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तद् ऋषीणामृषित्वम्। (तैत्तिरीयारण्यक २।९।१॥)

अस्यायमर्थः—अत्राह सायणाचार्यः "कल्पादौ ब्रह्मणा सृष्टा ...

1—आचार्यकृतायां सन्ध्यापद्धति मीमांसायां व्याख्यातम्।

कृत्स्नमध्ये पुनः पुनः जायन्ते तस्मादजाः । ते च पृश्नयः शुक्ला स्वरूपे निर्मलाः सन्तोऽपि पुनस्तप आचरन्" । (सायणः)

'अग्निमीळे०' इति मन्त्रस्य मधुच्छन्दा ऋषि वैश्वामित्रः=विश्वामित्रपुत्रः । नह्यसौ मधुच्छन्दा अजः । अतो नायं मन्त्रद्रष्टा मन्त्रकृद् वा ।

अथ च कचित् मन्त्रार्थदर्शनानन्तरमपरनामधेयप्रतिलम्भो बहूनामृषीणाम् । यथा विश्वरथो राजा मन्त्रार्थदर्शनानन्तरं विश्वामित्रनाम लेभे । एवं श्रद्धासूक्तस्य[1] मन्त्रार्थद्रष्ट्र्या नाम श्रद्धा कामायनी । शिवसंकल्पसूक्तस्य[2] द्रष्टुः नाम शिवसंकल्प इति । तदिदं संवादसूक्तेषु[3] विशेषतः ।

अथ च—यथा मन्त्रार्थद्रष्टारऋषयस्तथैव मन्त्रार्थद्रष्ट्र्य ऋषिका अपि । यथा—रोमशा, ब्रह्मवादिनी, लोपामुद्रा[5], नदी[6], विश्ववाराआत्रेयी[7] शश्वती आङ्गिरसी[8], अपाला आत्रेयी[9], इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी[10], घोषा काक्षीवती[11], अदितिर्दाक्षायणी[12], सूर्या सावित्री[13], इन्द्राणी[14], जुहू ब्रह्मजाया[15], गोधा[16], इन्द्राणी[17], श्रद्धा कामायनी[18], देवजामय इन्द्रमातरः[19], यमी वैवस्वती[20], शची पौलोमी[21], सार्पराज्ञी[22], संवादसूक्तेषु च ऋषिकाः । बहवो भावाः स्त्रीभिरेव साक्षात्कर्तु शक्याः । नहि स्त्रीभावाः पुरुषैर्ज्ञायन्ते यथा प्रसवपीड़ा । क्वचिदुभावपि ऋषी[23] प्रतिपाद्यविषयवैशिष्ट्यात् । कात्यायन सर्वानुक्रमण्यामेता ऋषिका निर्दिष्टा । महर्षिस्तु कचित् क्वचिद् विप्रतिपद्यते ऽर्थवैशिष्ट्यात् ।

ननु नद्यपि ऋषिका भवितुमर्हति । सत्यम् । उक्तं हि पूर्वं यथा मन्त्रार्थदर्शनानन्तरमपरनामधेयप्रतिलम्भः । नह्यत्र नदीनाम्ना जलप्रवाहरूपा सरिद्

१—ऋ० १० । १५१ ॥ २—यजु० ३४ । १—६ ॥

३—ऋ० १० । १० ॥ यमयमी संवादः सूक्तम् । ऋ० १० । ९५ पुरुरव उर्वशी संवादः । ऋ० १० । १०८ पणिसरमा संवादः । ४—ऋ० १ । १२६ । ६ ॥

५—ऋ० १ । १७९ । १—२ ॥ ६—ऋ० ३ । ३३ । ४, ६, ८, १० ॥

७—ऋ० ५ । २८ ॥ ८—ऋ० ८ । १ । ३४ ॥ ९—ऋ० ८ । ९१ ॥

१०—ऋ० १० । २८ । १ ॥ ११—ऋ० १० । ३९ ॥ १२—ऋ० १० । ७२ ॥

१३—ऋ० १० । ८५ ॥ १४—ऋ० १० । ८६ ॥ १५—ऋ० १० । १०९ ॥

१६—ऋ० १० । १३४ ॥ षष्ठ मन्त्रस्योत्तरार्धस्य सप्तममन्त्रस्य च ॥

१७—ऋ० १० । १४५ ॥ १८—ऋ० १० । १५१ ॥ १९—ऋ० १० । १५३ ॥

२०—ऋ० १० । १५४ ॥ २१—ऋ० १० । १५९ ॥ २२—ऋ० १० । १८९ ॥

२३—ऋ० १० । ८६, १० । १०९ ॥

तु तद्विद्यावेत्री काचिन्महिला ऋषिका ऽभिप्रेता । तस्या 'नदी' नामधेय प्रतिलम्भः । तन्नाम्नैव सा व्यवाह्रियत ।

(अथ दैवत मीमांसा)

अथातो दैवतम् । अत्राह कात्यायनः—

मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात् । (ऋ० सर्वा०)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य सर्वेषु मण्डलेषु प्रथमं सूक्तमग्निदेवताकम् । ऐन्द्रशब्दसंशब्दनात् प्राक् । अनादेशेऽग्निर्देवता मण्डलादिषु । ऐन्द्रशब्दसंशब्दनात् परं तु "अनादेशे त्विन्द्रो देवता" ऋ० स० १२ । ५ ॥ इति परिभाषया यत्र देवता नोक्ता तत्र इन्द्रो देवता मन्यते एव । अग्नि देवता प्रकरण समाप्त्यनं पुनः 'इन्द्रो देवता' इति कथ्यतेऽनुक्रमण्याम् । अन्यत्र यस्य सूक्तस्य मन्त्रस्य वा या देवता प्रोक्ता सैव ज्ञेया यथा नवम मण्डलस्यादिसूक्ते पवमानदेवता।

बृहद्देवतायामप्युक्तम्—

आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुच्छन्दस आर्षकम् । (बृह० १।१२६॥)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य प्रथमं सूक्तम् आग्नेयम् अग्निदेवताकम् । अग्निर्देवताऽस्येति आग्नेयम् । सा ऽस्य देवतेत्यर्थे 'अग्नेर्ढक्' (शब्दानु०४।२।३३) इति ढक् । मधुच्छन्दसश्च आर्षकम् । आर्षकमिति सूक्तविशेषणम् । ऋषेः इदं आर्षम् 'शेषे' (शब्दानु० ४।२।९१॥) इत्यण् । आर्षमेव आर्षकम् । इदं वास्य ऋषेः कर्म यदयं मन्त्रार्थं दृष्टवान् अनेन प्रथमं कर्माकरोत् प्रयुक्तवान् प्रचारितवांश्च ।

अग्निशब्दस्य कः पदार्थ इति विचार्यते—

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०' (निरुक्त ७।१४।)

इत्यादिकम् १४१—१८२ पृष्ठेषु विस्तरतो व्याख्यातम् । प्रविविनक्ति शब्दो भिद्यतेऽर्थश्चेत्यप्युक्तम् । तत्र प्रथममण्डलस्य प्रथमे सूक्तेऽग्निशब्देन परमेश्वरो भौतिकाग्निश्च महर्षिणा व्याख्यातौ । द्वितीयमण्डलस्य प्रथमे सूक्ते ऽग्निशब्देन विद्युदादयो व्याख्याताः । तृतीयचतुर्थमण्डलयोः प्रथमे सूक्ते ऽग्निशब्देन विद्वान् व्याख्यातः । पञ्चमषष्ठमण्डलयोः प्रथमे सूक्ते अग्निशब्देन पुनर्भौतिको व्याख्यातः । सप्तममण्डलस्य प्रथमे सूक्तेऽग्निशब्देन विद्युद् व्याख्याता ।

अथान्यत्र स्ववेदभाष्ये महर्षिणाऽग्निशब्दस्य नानाऽर्था गृहीताः । तद्यथा—

अग्निः=जठरस्थः । (यजु० ५ । ६ ॥)

अग्निः=सूर्यः । (यजु० ५ । ६ ॥)

अग्निः=युद्धजन्यक्रोधाग्निः । (यजु० ६ । १८ ॥)

अग्निः=सर्वविद्याप्राप्तो विद्वान् । (यजु० ६ । १६ ॥)

अग्निः=न्यायमार्गे गमयिता विद्वान् । (ऋ० १ । १०७ । ३ ॥)

अग्निः=सर्वविद्याया वेत्ता विज्ञापयिता वा विद्वान् । (ऋ० १ । १०५ । १४ ॥)

इत्यादिनानाभिधेयेषु महर्षिणाऽग्निशब्दो व्याख्यातः । निघण्टौ पञ्चमाध्याये ऽग्निरिति पदनामसु पठितम् तत्रानेकार्था अनवगतसंस्काराश्च शब्दा यास्केन पठिता । तत्राग्निशब्दस्याप्युल्लेखः । वेदे ऽपि—

विदेदग्निर्नभो नाम्ना ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि (यजु० ५ । ६ ॥)

अत्र तृतीयस्यां पृथिव्यां द्युलोकेऽग्निर्वर्णितः स च सूर्यः पृथिवीशब्दो लोकवचनः अयमग्निशब्दोऽगिधातोरपि निष्पन्नः "अगि गतौ" इति । गतेश्च त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति गत्यर्थमादाय 'न्यायमार्गे गमयिता' । ज्ञानार्थमादाय 'सर्वविद्याया वेत्ता' इत्यादि ।

यत्तु निरुक्ते प्रतिपादितम्—

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः । (निरुक्त ७ । १८ ॥)

इति वचनं तु 'निरुक्तमधिदैवतम्' इति स्वविषयाभिप्रायेण ।

(अथ दैवतमीमांसा)

अथ देवताशब्दस्य कः पदार्थः इति विचार्यते । अत्राह महर्षिः—

यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति सोऽर्थस्तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् ।
(ऋग्वेदादि० शता० सं० भा० २ पृष्ठ ६१० ।)

कात्यायनोऽप्याह—

या तेनोच्यते सा देवता ।　　(ऋक् सर्वा० २ । ५ ॥)

षड्गुरुशिष्यश्च व्याख्यातवान्—

तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता ।

अत्र केचिदाहुः मन्त्रेण या देवता स्तूयते सा देवताशब्दभाक् । सा च विग्रहवती तदधिष्ठात्री देवता वा प्रोच्यते । तदसत् । बहुत्र पदार्था अपि स्तूयन्ते यथा 'उलूखलम्' (ऋ०१।२८।५–६॥) 'उलूखलमुसले' (ऋ० १।२८।७।६॥) यूपः' (ऋ० १।३६।१३–१४॥) इत्यादि　तथा कालोऽपि स्तूयते यथा उषो रात्री' (ऋ० १।११३।१॥) 'कालचक्रम्' (ऋ०१।१६४।४८) इत्यादि । 'क्वचिद् भावा अपि स्तूयन्ते यथा 'भाववृत्तम्'[1] (ऋ० १०।१९०।१०३) स्तूयन्ते वर्ण्यन्त इत्यर्थः । तस्मात् मन्त्रप्रतिपाद्यविषय एव देवताशब्देनोच्यते

त एते चतुर्णां वेदानां प्रतिमन्त्रं प्रतिपाद्यविषया महर्षिणा शतवर्षकल्पपूर्वं चतुर्वेदविषयसूचीनाम्नि स्वनिर्मिते ग्रन्थे प्रदर्शिताः । दौर्भाग्यात् पूर्वेषां १९३० विक्रमसंवत्सरे यस्मिन् काले महर्षिणा आर्षत्वं लब्धं निर्मिता अधुना मुद्रिता । परोपकारिणीसंग्रहस्था जराजीर्णा महताप्रयत्नेन मया प्रतिच्छायलिपिं कारिताऽऽसीत् । तदज्ञानात् क्षेमकरणदासत्रिवेदिनोऽथर्ववेदभाष्यं तुलसीरामस्वामिनः सामवेदभाष्यं महामहोपाध्यायार्यमुनेः शिवशंकरकाव्यतीर्थस्य च महर्षिशिष्टं[2] ऋग्वेदभाष्यममूलकं जातम् । महर्षिणा व्याख्यातयोर्वेदयोः पुनः व्याख्यातारस्तु भाष्यकारपदलुलुप्सव एव । चतुर्णां वेदानां प्रतिमन्त्रं विषयान् निर्दिश्य महर्षिश्चतुरो वेदान् व्याख्यातवानेव । एषु मन्त्रेषु किं वर्णितमिति न मनुष्या ज्ञातुं प्रभवन्ते । उक्तं हि—

१—भावानां पदार्थानां वृत्तिः सृष्टयादिप्रवृत्तिः यस्य देवता तद् भाववृत्तीयमिति प्राप्ते छार्षेऽण् । (वेदार्थदीपिका १० । १२९ ॥)

२—महर्षिणा ऋ० ७ । ६१ । २ मन्त्र पर्यन्तं व्याख्यातम् । ततोऽग्रे महामहोपाध्यायार्यमुनि शिवशंकरकाव्यतीर्थभ्यां ऋग्वेदो व्याख्यातः । सोऽप्यपूर्णः ।

'नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेः' (निरु० १३। १२ ॥)

अस्यायमर्थः—एषु मन्त्रेषु ऋषेरेव प्रत्यक्षं भवति ज्ञाते तु तस्मिन् विषये वयमाचार्या अपि मन्त्रान् व्याख्यातुं क्षमाः इत्यलं दुःखप्रदर्शनेन

(अथ छन्दोमीमांसा)

अथ छन्दोविचारः । अत्राह महर्षिः—

एवं यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । (ऋग्वेदादि० श० सं० भाग २ पृष्ठ ६६० ॥)

कात्यायनश्चाह—

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः । (ऋक्सर्वा० २। ६ ॥)

तत्र प्रथमम्—

आदौ गायत्रं प्राग्हैरण्यस्तूपात् । (ऋक्सर्वा० १२। १४॥)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य आदौ प्रारम्भे गायत्रं सूक्तम् । गायत्री एव गायत्रम् छन्दः । (छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम्) (महाभाष्य ४।२।५५॥) नपुंसकार्थाभिधायिनः छन्दोवाचिनः शब्दात् अणादिप्रत्ययविधानं कर्तव्यम् । स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते । सूक्तानां गायत्रीछन्दः सामान्येन प्राक् हैरण्यस्तूपात्=येषां मन्त्राणां हिरण्यस्तूप ऋषिः (ऋ० १।३१॥) ततः प्राक् इत्यप्यनादेशे ज्ञेयम् । आदेशे तु यथा ऋ० १।१० सूक्तविषये ऽनुक्रमण्यामुक्तम्

गायन्ति द्वादशानुष्टुभं तु । (ऋक्सर्वा० १। १॥) इति छन्दोऽनुष्टुप्

"अग्निमीळे" इत्यत्र उपर्युक्तपरिभाषया गायत्री छन्दः सा च त्रिपदा गायत्रीति ज्ञेयम् इति तथा चोक्तमनुक्रमण्याम्—

प्रथमं छन्दस्त्रिपदा गायत्री (ऋक्सर्वा० ४। १॥)

अनादेशे ऽष्टाक्षरा पादाः (ऋक्सर्वा० ३। ११॥)

ऋषिछन्दांसि गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा ।
अष्टाक्षरा वा त्रयः पादा चत्वारो वा षडक्षरा ॥
(ऋ० प्रा० १६। १५। १६॥)

अत्राष्टाक्षरा त्रयः पादा इति विभाव्यम् ।

यथा लौकिकेषु काव्येषु विषयवैशिष्ट्यात् छन्दोरचना भवति तथा वेदेऽपि विचार्यम् । यथा—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

(रघुवंश ८ । ६७ ॥)

अजस्य विलापो वैतालीयच्छन्दसि कविनोपनिबद्धः । करुणारसो वैतालीय-मन्दाक्रान्तादिषु वर्ण्यते न तु तोटकदोधकादिच्छन्दःसु । तथा च प्रपञ्चित कविभिः—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तरसंग्रहे ।
शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥१॥

शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥२॥

रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु ।
षाड्गुण्यविषया नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥३॥

वसन्ततिलकं भाति संकरे वीररौद्रयोः ।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥४॥

उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी मता ।
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा ॥५॥

साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथिवी भरक्षमा ।
प्रावृट् प्रवास व्यसने मन्द्राक्रान्ता विराजते ॥६॥

शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितं मतम् ।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ॥७॥

अथ च छन्दःपादव्यवस्थाऽपि सूक्ष्मेक्षिकया ऽर्थवशेन ध्येया तथा चाह जैमिनिः—

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । (मीमांसा २।१।३५॥)

अस्यायमर्थः—तेषां मन्त्राणां यत्र यस्मिन् मन्त्रे अर्थवशेन अर्थानुरोधेन पादव्यवस्था पादरचनेत्यर्थः सा ऋक् । ते मन्त्रा ऋच इति ज्ञेयाः । पादशो ऽर्थो ज्ञेयः। अन्वयस्तु भावार्थप्रदर्शकः । यथा—

आ त्वा कण्वां अहूषत
गृणन्ति विप्र ते धियः
देवेभिरग्न आ गहि (ऋ० १।१४।२॥)

अत एवात्र गृणन्ति इति तिङन्तमुदात्तवत् । तथा च—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः
ईड्यो नूतनैरुत । (ऋ० १।१।२॥)

इत्यस्य भाष्ये नूतनैरिति स्वतन्त्रं पदं महर्षिणा व्याख्यातम्
अर्थवशेन पादव्यवस्थाममन्यानौ शबरकुमारिलौ भ्रान्तावेव

छन्द आदिविषये यत्र यत्र सर्वानुक्रमणीकारान् महर्षेर्भेदः तत्र तत्र सकारणं विवेचयिष्यते ।

(अथ षड्जादिस्वरमीमांसा)

अस्मिन् मन्त्रे षड्जःस्वर इति महर्षिणोक्तम् । षड्जस्वरे ऽयं मन्त्रो गेय इति उक्तं हि—

तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद् विज्ञेयम् ।

(ऋग्वेदादि० श० सं० भा० २ पृ० ६६०)

तत्रैवं व्यवस्था क्रियते—

१–षड्जः २–ऋषभः ३–गान्धारः ४–मध्यमः ५–पञ्चमः ।
६–धैवतः ७–निषादः इति सप्त स्वराः ।

१--गायत्री २--उष्णिक् ३--अनुष्टुप् ४--बृहती ५--पङ्क्ति
६–त्रिष्टुप् ७–जगती इति सप्त छन्दांसि ।

उक्तं च वेदाङ्गछन्दोग्रन्थे—

स्वराः षड्ज ऋषभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषादाः ।
(वेदाङ्गछन्दः)

स्वराः षड्जादयः **(पिङ्गल ३ । ६४)**

इति सूत्रव्याख्याने हलायुध आह—

षड्जर्षभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषादा स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः **(हलायुध ३ । ६४ ॥)**

अस्यायमर्थः—गायत्री षड्जस्वरा उष्णिक् ऋषभस्वरा अनुष्टुप् गान्धारस्वरा बृहती मध्यमस्वरा पङ्क्तिः पञ्चमस्वरा । त्रिष्टुप् धैवतस्वरा । जगती निषादस्वरा

एवमुत्तरसप्तकेऽपि क्रमेण षड्जादिस्वरा ज्ञेया तथाहि—

अतिजगती षड्जस्वरा । शक्वरी ऋषभस्वरा । अतिशक्वरी गान्धारस्वरा । अष्टिः मध्यमस्वरा । अत्यष्टिः पञ्चमस्वरा । धृतिः धैवतस्वरा । अतिधृतिः निषादस्वरा । तथैव तृतीये सप्तके क्रमेण षड्जादयः स्वरा ज्ञेयाः

१—कृतिः २—प्रकृतिः ३—आकृतिः । ४—विकृतिः ५—संकृतिः । ६—अभिकृतिः ७—उत्कृतिः

महर्षिकृता छन्दःसूच्यपि परोपकारिणीसंग्रहस्था शतवर्षकल्पनिर्मिता नाधुनापि मुद्र्यते । साम्प्रतं महर्षिहस्तलेखेष्वन्विष्टा ऽपि न लब्धा अतः तृतीयसप्तकस्वरभेदविषये न किंचिद् वक्तुं पार्यते ।

वेङ्कटमाधवः छन्दानुक्रमण्यामाह—

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुप् जगत्यौ सप्तेति छन्दांसि कवयो विदुः
ननु चातिजगत्यस्ति शक्कर्यप्यातिशक्करी
तथैव चाष्टिरत्यष्टिर्धृतिश्चातिधृतिस्तथा–
सर्वाणि दृष्टानि च संहिताया–
न्तथैव चासंश्चतुरुत्तराणि
ततश्च वेदे वचनीयमित्थ–
मिमानि छन्दांसि चतुर्दशेति
चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति।
चतुराधिकछन्दांसि दर्शितानि चतुर्दश
यानि दाशतयीष्वासन् उत्तराणि सुभेषजे

अत्र वेद इति ऋग्वेदे इत्यर्थः ऋग्वेदे चतुर्दश छन्दासि सन्ति। तृतीय-सप्तकछन्दांसि तु यजुःषु। तेषां नामानि—

कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संस्कृतिस्तथा
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते
अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिर्द्विनवतिः
षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमं तु चतुःशतम्

अस्यायमर्थः—कृतिः अशीत्यक्षरा एवमग्रे चत्वारोऽक्षरा वर्धन्ते। सप्तमं छन्दः चतुःशताक्षरकम्

निदानसूत्रे तृतीयसप्तकछन्दोनामानि—

१—सिन्धुः। २—सलिलम् ३—अम्भः। ४—गगनम्। ५—अर्णवः। ६—आपः ७—समुद्रः कृत्यादिनामस्थाने क्रमशो ज्ञेयानि।

एषां सर्वेषां प्रथमद्वितीयतृतीयसप्तकच्छन्दसां षड्जादयः स्वरा क्रमशो भवन्ति

भरतोऽपि सप्तस्वरानाह—

स स्वरो यः श्रुतिस्थाने स्वरन् हृदयरञ्जकः ।
षड्ज ऋषभ गान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा ॥
धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ।

नारदेन च तल्लक्षणान्यप्युक्तानि तथाहि—

षड्जं रौति मयूरोऽपि वृषो नदति चर्षभम् ।
अजा विरौति गान्धारं क्रौञ्ची नर्दति मध्यमम् ॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम् ।
अश्वश्च धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः ॥

षड्जलक्षणं चाह—

नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन् ।
षड्भ्यः संजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥

अथ षड्जादिस्वरविषये किञ्चित् प्रपच्यते—

शब्दार्थौ कूटस्थौ आकाशवद् व्यापकत्वात् । तथाहि व्योम्नि सर्वं
स्वराः । तेषु द्वौ अचलौ षड्जः पञ्चमश्च । पञ्चमस्य षड्ज एव प्रकृतिः
ऋषभगान्धारमध्यमधैवतनिषादानां षड्ज एव प्रकृतिः एषु
उत्तराङ्गश्च भवतः । पूर्वाङ्गे षड्ज एवाचलः ततः प्रारम्भात् । उत्तराङ्गे
चलः ततः प्रारम्भात् । पूर्वाङ्गोत्तराङ्गयोर्यस्य स्वरस्य प्रथमं स्थापना
कूटस्थ इति षड्जोऽचलो जायते अन्ये विवादिनः संवादिन
शाब्दिका भाषन्ते शब्दो नित्यः परं तत्र षड्जस्याव्यपेक्षया स्वराः न
दृश्यन्ते । संगीतशास्त्रेषु चेदं विचार्यते

यथा पर्वतवत् शब्दः कूटस्थो व्यवस्थितः तथायमचलश्च
ध्यते । न चल अचलो नित्य इत्याशयः स्वराणां मध्ये षड्ज
श्रुतयोऽनन्ताः । अतो हि यत्र षड्जो गृह्यते तत्रैवाचलो जायते ।
स्वरः । अस्याष्टौ भेदा भवन्ति अस्योच्चारणस्थानं कण्ठः । अस्य

भरतनाट्यशास्त्रे द्वाविंशतिः श्रुतयो निर्दिष्टाः तथाहि—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः
द्वौ द्वौ निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिः ऋषभधैवतौ ।

अस्यायमर्थः—षड्जमध्यमपञ्चमेषु चतस्रः चतस्रः श्रुतयो भवन्ति निषाद-गान्धारयोः द्वे द्वे श्रुतो भवतः। ऋषभधैवतयोः तिस्रः तिस्रः श्रुतयो भवन्ति तदेतत् सर्वमधोन्यस्तचित्रेण ज्ञेयम्

(सप्तके श्रुतीनां व्यवस्था)

श्रुतिसंख्या	श्रुतिनाम	स्वरनामानि	उदात्तानुदात्त	स्वरितविभागाः
१	तीव्रा		षड्जः	उ.
२	कुमुद्वती			
३	मन्दा			अ.
४	छन्दोवती	स		
	दयावती		ऋषभः	अ.
	रञ्जनी	रे		
७	रक्तिका	रे		
८	रौद्री	ग	गान्धारः	उ.
९	क्रोधा	ग		
१०	वज्रिका		मध्यमः	उ.
११	प्रसारिणी			
१२	प्रीतिः	म		अ.
१३	मार्जनी	मं		
१४	क्षितिः		पञ्चमः	उ.
१५	रक्ता			
१६	संदीपिनी			अ.
१७	आलापिनी	प		
१८	मदन्ती		धैवत	अ.
१९	रोहिणी	ध		
२०	रम्या	ध		
२१	उग्रा	नि	नि	उ.
२२	क्षोभिणी	नि		

४	स
७	रे
९	ग
१३	म
१७	प
२०	ध
२२	नि

६	रे
८	ग
१४	मं
१९	ध
२१	नि

पञ्चश्रुतिक धैवतः (रामामात्यदाक्षिणात्यमते)

षड्जग्रामः पञ्चमः
मध्यम ग्रामः पञ्चमः

तीव्रो मं लोचनानुसारम्
(पञ्चदशत्रिष्टशताब्दी)

पञ्चम श्रुतिक ऋषभः (रामामात्य दाक्षिणात्यमते)

१	स
५	रे
८	ग
१०	म
१४	प
१८	ध
२१	नि

आधुनिक शुद्धस्वराः

तथा चोक्तं सङ्गीतरत्नाकरे—

तीव्रा कुमुद्वती मन्द्रा छन्दोवत्यस्तु षड्जा।
दयावती रञ्जनी च रक्तिका ऋषभेस्थिता॥
रौद्री क्रोधा च गान्धारे, वज्रिकाऽथ प्रसारिणी।
प्रीतिश्च मार्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाश्रिताः।
क्षिती रक्ता च सन्दीपिन्यालापिन्यपि पञ्चमे॥
मदन्ती रोहिणी रम्येत्येता धैवतसंश्रयाः।
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती॥

श्रुतीनां नामान्तराणि—
नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना।
मातङ्गी सरसाऽमृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी॥
वाला शार्ङ्गवी कला कलरवा माला विशाला जया।
मात्रेति श्रुतयः पुराणकविभिः द्वाविंशतिः कीर्तिताः॥

गान्धारादिसप्तस्वराणामुदात्तादिवर्णनम्—
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

अस्यायमर्थः—निषादगान्धारौ स्वरौ उदात्तलक्षणेन गीयन्ते। ऋषभधैवतौ अनुदात्तलक्षणेन गातव्यौ षड्जमध्यमपञ्चमाश्च स्वरितलक्षणेन गेयाः।

ऋषिदैवतछन्दःस्वरविषये विस्तरस्तु विश्वप्रदीपे व्याख्यास्यते।

अथ किंचिदवग्रहादिषु विचार्यते—

पदपाठकाले समस्तानां पदानां पदविभागं कृत्वा तत्रावग्रहः प्रदर्श्यते। यथा—

'पुरोहितम्' इति निर्भुजसंहितायाम्[१]।
'पुरःऽहितम्' इति प्रतृण्णसंहितायाम्[२]।

१—संहितापाठ इत्यर्थः।
२—पदपाठ इत्यर्थः।

ननु (समासे ऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः) (वा० प्रा० ५ । १ ॥)

अस्यायमर्थः—समासे ऽवग्रहो भवति स च ह्रस्वसमकालः एकमात्राकालो व्यवधाने भवतीत्यर्थः । तथा सति 'पुरःऽहितम्' इत्यत्र उदात्तादुत्तरस्यानुदात्तस्य कथं स्वरितः प्रचयश्च 'पुरःऽहितम्' इति । अतएव तैत्तिरीयसंहितापदपाठे उदात्तादुत्तरस्य अवग्रहोत्तरस्यानुदात्तस्य न स्वरितः क्रियते । न वा स्वरितादुत्तरस्यानुदात्तस्य प्रचयः। यथा—

प्रजावतीरिति—प्रजाऽवतीः । (तै० १ । १ । १ ॥)
श्रेष्ठतमायेति—श्रेष्ठऽतमाय । (तै० १ । १ । १ ॥

अत्रावग्रहे न स्वरितप्रचयौ दृष्टौ ।

अत्रोच्यते—

यथा सन्धीयमानामेकीभवतां स्वरः ।
उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे ॥ (ऋ० प्रा० ३ । २४ ॥

क्व उपदिष्टः ? उच्यते—

उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा ।
स्वर्यते ऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् ॥
(ऋ० प्रा० ३ । १६ ॥)

अस्यायमर्थः—उदात्तः पूर्वो यस्मात् तत् उदात्तपूर्वम् उदात्तात्परमित्यर्थः । नियतम् अनुदात्तं विवृत्त्या प्रकृतिभावेन व्यञ्जनेन वा ऽन्तर्हितमपि स्वर्यते स्वरित भवति यदि तस्माद् अनुदात्तात् पर उदात्तः स्वरितो वा न भवति । अयमेव नियमो मात्राकालव्यवधाने ऽवग्रहे ऽपि । अतः पूर्वमुक्तम्—"तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे" इति तस्मात् "पुरःऽहितम्" इत्यत्र स्वरितप्रचयौ ज्ञेयौ ।

ननु रत्नानि दधाति इति रत्नधा अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमः । इत्यत्र—
बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा । (वा० प्रा० ५ । ७ ॥)

अस्यायमर्थः—यस्मिन् समस्ते पदे ऽनेकानि पदानि तत्र पश्चात्कालिकं यत् पदं तेनावग्रहो भवति । ततः रत्नधा ऽतमः इत्यवग्रहः स्यात् न तु रत्नऽधातमः । इति ।

अत्राह कात्यायनः—

(वीतम हूतम-सूतम-गोपातम-रत्नधातम-वसुधातमाः पूर्वेण)
वा० प्रा० ५।३॥

अस्यायमर्थः—वीतमादयः शब्दाः पूर्वेण पदेनावगृह्यन्ते इति नियमः। तस्माद् रत्न ऽधातमः इत्यवग्रहः।

'ईळे' इत्यत्र ईड धातुः। तस्य डकारस्य—

द्वयोश्च स्वरयोर्मध्यमेत्य।

संपद्यते स डकारो ळकारः॥

(ऋ० प्रा० १।५२॥)

अस्यायमर्थः—द्वयोः स्वरयोर्मध्ये स्थितो डकारः ळकारो भवति। विस्तरस्तु पदार्थप्रदीपे द्रष्टव्यः।

(ब्राह्मणमीमांसा)

अथ मन्त्रभूमिकारूपं ब्राह्मणं प्रोच्यते। तत्राह महर्षिः—

तत्राद्ये मन्त्रे ऽग्निशब्देनश्वरेण आत्मभौतिकावर्थावुपदिश्येते।

(ऋ० भा० १।१।१॥)

अस्यायमर्थः—ईश्वरेण प्रथमे मन्त्रे ऽग्निशब्दद्वारा आत्मनो भौतिकस्याग्नेश्चोपदेशः कृतः। उक्तं च—

यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यते इति क्रियापदं प्रयुज्यते ऽस्य सर्वत्र कर्त्तेश्वर एव बोध्यः।

(ऋ० भा० भावार्थ १।१।१॥)

ब्रह्मणः=मन्त्रस्य इदम् प्रयोजनमिति ब्राह्मणम्।

इति ऋषि देवता छन्दः स्वर ब्राह्मण मीमांसा।

आर्यभाषा

(ऋषि-देवता-छन्दः-स्वर-ब्राह्मण-विचार)

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में सर्वत्र प्रत्येक सूक्त की ऋक्संख्या और प्रत्येक मन्त्र का ऋषि देवता छन्द तथा छन्दों के षड्ज आदि स्वर और प्रत्येक मन्त्र के भाष्य के प्रारम्भ में मन्त्रभूमिका—ब्रह्म=मन्त्र की संक्षिप्त विषयनिर्देशिका रूप ब्राह्मण भी दिखाया है। क्योंकि जो व्यक्ति उपर्युक्त सब बातों को बिना जाने मन्त्र का प्रयोग करता है अर्थात् मन्त्र की स्वेच्छया व्याख्या करके उस मन्त्र को किसी बात का समर्थक बताता है वह व्यक्ति मन्त्र कण्टक कहाता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७४ पर देखो।

(ऋषिमीमांसा)

ऋषि आदि को कात्यायन अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में उल्लेख करता है—

अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। (ऋ० सर्वा० १)

अर्थात्—अग्निम् शब्द से प्रारम्भ होने वाले ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में नौ ऋचाएं हैं और विश्वामित्र गोत्रोत्पन्न मधुच्छन्दा इस सूक्त का ऋषि है। महर्षि ने केवल मधुच्छन्दा ऋषि लिखा है विश्वामित्र गोत्रोत्पन्न का उल्लेख नहीं किया है। बृहद्देवता तथा ऋग्विधान आदि में भी केवल मधुच्छन्दा लिखा है वैश्वामित्र नहीं। यह मधुच्छन्दा ऋषि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के आरम्भ के दश सूक्तों का ऋषि है जिनमें १०२ ऋचाएं हैं। यह मधुच्छन्दा ऋग्वेद के नवम मण्डल के प्रथम सूक्त का भी ऋषि है उस में १० ऋचाएं हैं। इस प्रकार यह मधुच्छन्दा ऋग्वेद के ११२ मन्त्रों का अर्थ द्रष्टा है अतः इस मधुच्छन्दा को शतर्ची=सौ ऋचाओं का अर्थद्रष्टा ऐसा कुछ कहते हैं और इसके साहचर्य से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अर्थद्रष्टा सब ऋषि छत्रि-न्याय से शतर्ची कहाते हैं।

यद्यपि सब ने सौ सौ ऋचाओं का अर्थ दर्शन नहीं किया पर क्योंकि मधुच्छन्दा ने १०२ ऋचाओं[1] का अर्थदर्शन किया उस के साहचर्य से प्रथम मण्डल के सब ऋषियों को शतर्ची कहते हैं। जैसे विना छाता लिये कुछ व्यक्ति जा रहे हो उनमें एक के पास भी यदि छाता है तो सब को कहा जाता है कि वे छाते वाले जा रहे हैं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७४ पर देखो।

१—प्रथममण्डल की १०२ ऋचाओं का अर्थद्रष्टा मधुच्छन्दा है। अन्य १० ऋचाएँ तो नवम मण्डल के प्रथम सूक्त की है जिनका भी अर्थद्रष्टा यह मधुच्छन्दा है।

(मन्त्रकर्ता–मन्त्रद्रष्टा–मन्त्रार्थद्रष्टा = ऋषि)

ऋषियों के प्रसङ्ग में तीन प्रकार के वर्णन वैदिक साहित्य में आते हैं।
क—कहीं ऋषियों को मन्त्रकर्ता लिखा है जैसे—

नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः (तै० आ० ४ । ११ ॥)

ख—कहीं ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा लिखा है जैसे—

मन्त्रदर्शी । (संहितोपनिषद् ब्राह्मण ३)

ग—कहीं ऋषियों को मन्त्रार्थ द्रष्टा लिखा है जैसे—

य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः । (न्याय० वात्स्यायन २ । १ । ६८ ॥

(मन्त्रद्रष्टा–ऋषि)

मन्त्र द्रष्टा सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा नाम के केवल चार ऋषि हुए। अग्नि ऋषि के द्वारा ऋग्वेद, वायु ऋषि के द्वारा यजुर्वेद, आदित्य ऋषि के द्वारा सामवेद और अङ्गिरा ऋषि के द्वारा अथर्ववेद प्रकट हुआ जैसा कहा है कि—

तेभ्यो ऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत । यजुर्वेदो वायोः । सामवेद आदित्यात्[१] । (ऐतरेय० २५ । २२ ॥)

ये ऋषि सृष्टि के आदि में बिना माता पिता के अमैथुनी सृष्टि में पैदा हुए थे। ये जन्म से ही शुद्ध थे फिर भी इन्होंने तप किया तब क्रमशः एक एक ऋषि को एक एक वेद प्रकट हुआ। अग्नि ऋषि को ऋग्वेद ही प्रकट हुआ इत्यादि। तैत्तियारण्यक में इन ऋषियों के सम्बन्ध में लिखा है कि—

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयो ऽभवन् । तद् ऋषीणामृषित्वम् । (तैत्तिरीयारण्यक २ । ९ ॥)

अर्थात्—(अजान्) जो माता पिता से नहीं पैदा हैं अमैथुनी सृष्टि में पैदा हुए उन को और जो (पृश्नीन्) पूर्वजन्म के संस्कार जिनके अन्तःकरण में नहीं थे उनको और जो (तपस्यमानान्) तपस्वी शुद्ध चरित्र वाले अब भी थे उनको

१—इस प्रमाण की विस्तृत व्याख्या आचार्यकृत सन्ध्यापद्धतिमीमांसा में है।

(स्वयंभु ब्रह्म) नित्य वेद (अभ्यानर्षत्) प्राप्त हुआ । वे ऋषि कहलाए । यह ऋषि शब्द का अर्थ है कि जिन्हें कुछ प्राप्त हो गया ।

ऋषि शब्द 'ऋषो गतौ' धातु से बनता है और यह ऋषि शब्द 'ऋषिर्दर्शने' धातु से भी बनता है । अमैथुनी सृष्टि के इन अग्नि आदि को ऋषि इस लिये कहा गया है कि इनको वेद प्राप्त हो गया । इनका अपना कोई समाधि आदि द्वारा परिश्रम नहीं करना पड़ा । परन्तु जो अगले ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा हुए उन्होंने समाधि बल से मन्त्रार्थ का दर्शन किया अतः 'ऋषिर्दर्शने' धातु से बना ऋषि शब्द उन के लिये प्रयुक्त हुआ । मन्त्रदृष्टयः का अर्थमन्त्रार्थदर्शन भी है ।

(मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि)

महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि जिन्होंने ईश्वर के ध्यान और ईश्वर के अनुग्रह से ठीक ठीक जिस मन्त्र का अर्थ जाना और सर्व प्रथम जिन्होंने उस मन्त्र का प्रचार अध्यापन किया वे उस उस मन्त्र के अर्थ द्रष्टा ऋषि कहलाये । उनका नाम कृतज्ञता प्रकाशनार्थ प्रत्येक मन्त्र के साथ अब तक लिखा चला आता है । प्रमाण संस्कृत भाग पृष्ठ २७५ पर देखो ।

ऋग्विधान में लिखा है कि—

ऋग्वेदाद्यस्य सूक्तस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ।
यथा ऋषिर्मधुच्छन्दा कर्मैतेनाकरोत् पुरा ॥

(ऋग्विधान १ । ७६ ॥)

अर्थात्—ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का ऋषि मधुच्छन्दा है इसने सर्व प्रथम इस सूक्त से कर्म किया ।

यहां पुरा शब्द सर्व प्रथम अर्थ में है । प्रमाण संस्कृत भाग पृष्ठ २७५ पर देखो ।

(मन्त्रकर्ता ऋषि)

कुछ लोग इन मधुच्छन्दा आदि ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानतें हैं जैसे—

नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः (तै० आ० ४ । १५ ॥)

इसको कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि यहां कृ धातु का अर्थ दर्शन है अर्थात् ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं । परन्तु महर्षि इन मधुच्छन्दा आदि को न मन्त्रकर्ता मानते हैं और न मन्त्रद्रष्टा । ये मधुच्छन्दा आदि मन्त्रार्थद्रष्टा हैं और मन्त्रों को प्रयोग करने वाले हैं । अर्थात् यहां कृ धातु का अर्थ प्रयोगमात्र है । जैसे सुवर्णकार चर्मकार आदि लोग

सुवर्ण या चमड़े को बनाते नहीं है केवल प्रयोग करते हैं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७६ पर देखो।

हां ऋषि लोग श्रौत तथा गृह्य मन्त्रों के कर्ता अवश्य हैं वेद मन्त्रों के नहीं जैसे (अयन्त इध्म आत्मा जातवेदः०) इत्यादि गृह्यमन्त्रों के कर्ता ऋषि हुए। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने भी यज्ञ की पद्धति में भूरग्नये प्राणाय स्वाहा आदि मन्त्र स्वयं बनाये जैसा उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वयं लिखा है संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७६ पर देखो। इस दृष्टि से हम स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी को भी मन्त्रकर्ता ऋषि कह सकते हैं।

यदि वेद मन्त्रों के भी ऋषि कर्ता है तो एक ही मन्त्र के अनेक ऋषि कैसे हो सकते हैं। मन्त्रों के अर्थ द्रष्टा ऋषि तो अनेक हो सकते हैं पर किसी एक रचना के कई कवि नहीं हो सकते। उदाहरण संस्कृत भाग पृष्ठ २७६ पर देखो।

ऋषियों को मन्त्रार्थ द्रष्टा कौन कौन मानता है प्रमाण संस्कृत भाग पृष्ठ २७७ पर देखो। इन ऋषियों का यह स्वभाव रहा है कि मन्त्रार्थ का वर्णन करते हुए उदाहरण के रूप में किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख कर देते हैं। जैसे भर्तृहरि का बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है "निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु०" इत्यादि। यह श्लोक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी को अतिप्रिय था और उन्होंने अपने जीवन में इसको चरितार्थ करके दिखा दिया। इस स्थिति में उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में यदि कोई व्याख्याता महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का उल्लेख करदे तो इसका यह अर्थ नहीं होगा कि महर्षि के बाद भर्तृहरि ने यह श्लोक बनाया और इस श्लोक में महर्षि का वर्णन है। इसी प्रकार वेद मन्त्रों की व्याख्या में यास्क ने जो 'कुरङ्गो राजा' ऋ० ८ । ४ । १९ ॥ की व्याख्या में दिखाया या ऋ० १० । ९८ । ५ ॥ की व्याख्या में जो देवापि शन्तनु की कथा लिख दी उसका अर्थ यह नहीं कि वेद में इन ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७७, २७८ पर देखो।

(मन्त्रार्थ को साक्षात् करने वाली ऋषिकाएँ)

जिस प्रकार मन्त्रों के अर्थों को साक्षात् करने वाले ऋषि हुए हैं इसी प्रकार ऋषिकाएँ भी हुई हैं। उनके नाम कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में इस प्रकार लिखे हैं—

१–रोमशा ब्रह्मवादिनी (ऋ० १ । १२६ । ६ ॥)

२–लोपामुद्रा (ऋ० १ । १७९ । १–२ ॥)

३–नदी (ऋ० ३ । ३३ । ४, ६, ८, १० ॥)

४–विश्ववारा आत्रेयी (ऋ० ५ । २८ ॥)

५–शश्वती आङ्गिरसी (ऋ० ८ । १ । ३४ ॥)

६–अपाला आत्रेयी (ऋ० ८ । ६१ ॥)

७–इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी (ऋ० १० । २८ । १ ॥)

८–घोषा काक्षीवती (ऋ० १० । ३६ ॥)

९–अदितिर्दाक्षायणी (ऋ० १० । ७२ ॥)

१०–सूर्या सावित्री (ऋ० १० । ८५ ॥)

११–इन्द्राणी (ऋ० १० । ८६ ॥)

१२–जुहू ब्रह्मजाया (ऋ० १० । १०९ ॥)

१३–गोधा (ऋ० १० । १३४ ॥)

१४–इन्द्राणी (ऋ० १० । १४५ ॥)

१५–श्रद्धा कामायनी (ऋ० १० । १५१ ॥)

१६–देवजामय इन्द्रमातरः (ऋ० १० । १५३ ॥)

१७–यमी वैवस्वती (ऋ० १० । १५४ ॥)

१८–शची पौलोमी (ऋ० १० । १५९ ॥)

१९–सार्पराज्ञी (ऋ० १० । १८९ ॥)

इसी प्रकार संवाद सूक्तों में जैसे ऋ० १० । ८६ ॥ ऋ० १० । १०९ ॥ बहुत सी ऋषिकाएँ निर्दिष्ट हैं । कहीं कहीं ऋषियों के प्रचलित नाम मन्त्रार्थ दर्शन के बाद पड़े हैं जैसे विश्वरथ का नाम विश्वामित्र तथा शिवसंकल्प ऋषि आदि नाम पुरुषों के, तथा नदी आदि नाम जो कात्यायन ने दिखाये हैं । इसका अर्थ जलप्रवाह रूप नदी नहीं है प्रत्युत तद्विद्या जानने वाली ऋषिका है ।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने ऋषियों के नाम के सम्बन्ध में कहीं कहीं मतभेद प्रकट किया है । जिसका विशेष कारण वहां वहां दिखायेंगे ।

(देवता मीमांसा)

मन्त्रों के देवता भी कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में दिखाये हैं । जहां जहां महर्षि का कात्यायन से मतभेद है वहां हम सकारण विवेचना करेंगे । कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के देवता के विषय में लिखा है कि—

मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात् । (ऋ० स० १ ।)

अर्थात्—सर्वानुक्रमणी की यह परिभाषा है कि जिस का देवता न लिखा हो वहां इन्द्र देवता समझो (अनादेशेत्विन्द्रो देवता ऋ० स० १२ । ५ ॥) परन्तु सब मण्डलों के आदि सूक्तों में देवता न बताने पर अग्नि देवता जानो । जब अग्नि देवता का अधिकार समाप्त होगा वहां 'इन्द्रो देवता' कह दिया जावेगा जैसे ('सुरुपकृत्नु' दर्शेन्द्रम्' ऋ० १ । ४ ॥) । वैसे जिनका देवता इन्द्र हैं उनको कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'अनादेशेत्विन्द्रो देवता' वैसे ही होगा पर अग्नि देवता के प्रकरण को समाप्त करने के दृष्टिकोण से इन्द्रो देवता कहा जायेगा ।

इस प्रकार सब मण्डलों के आदि सूक्तों में अग्नि देवता न कहने पर भी अग्नि देवता रहेगा । पर क्योंकि नवम मण्डल में पवमान सोम देवता बताया गया है वहां पवमान सोम देवता ही ९ मण्डल के आदि सूक्त में रहेगा ।

वृहद्देवता में भी लिखा है कि—

आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुच्छन्दस आर्षकम् । (बृहद्देवता १ । १२६ ॥)

अर्थात्—ऋग्वेद का प्रथम सूक्त अग्नि देवता वाला है । और यह मधुच्छन्दा ऋषि का ऋषिकर्म है । ऋषिकर्म = मन्त्र का अर्थ दर्शन और सर्वप्रथम उसका प्रचार ऋषिकर्म है ।

(अग्नि शब्द का अर्थ)

अग्नि शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में पृष्ठ २०२ से २२४ तक विस्तार से लिखा जा चुका है । अग्नि शब्द के जितने निर्वचन हैं उतने पृथक् पृथक् अर्थ हैं यह भी पृष्ठ २२८ से २४३ तक बताया जा चुका है ।

ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिकाग्नि को व्याख्या ऋषि ने की है । द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि से विद्युदादि की व्याख्या की है । तृतीय और चतुर्थ मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से विद्वान् की व्याख्या को है । पञ्चम और षष्ठ मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से फिर भौतिकाग्नि का व्याख्यान किया है । सप्तम मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से विद्युत् की व्याख्या ऋषि ने की है ।

अन्यत्र अपने वेद भाष्य में महर्षि ने अग्नि शब्द के अनेक अर्थ किये हैं जैसे—

अग्नि = जाठराग्नि (यजुर्वेद ५ । ९ ॥)
अग्नि = सूर्य (यजुर्वेद ५ । ९ ॥)

अग्नि = युद्धजन्यक्रोधाग्नि (यजुर्वेद ६ । १८ ॥)
अग्नि = सर्वविद्याप्राप्त विद्वान् (यजुर्वेद ६ । १६ ॥)
अग्नि = न्याय मार्ग में चलाने वाला विद्वान् (ऋ० १ । १०७ । ३ ॥)
अग्नि = सब विद्या का जानने वाला और बताने वाला विद्वान्
(ऋ० । १०५ । १४ ॥)

इत्यादि अनेक अर्थों में महर्षि ने अग्नि शब्द की व्याख्या की है। निघण्टु के पञ्चमाध्याय में अग्नि शब्द पदनामों में यास्क ने पढ़ा है। यास्क ने निघण्टु के चतुर्थ और पञ्चम अध्याय के सम्बन्ध में लिखा है कि—

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः । अनवगतसंस्कारांश्च निगमान । तदैकपदिकमित्याचक्षते ।
(निरुक्त ४ । १ ॥)

अर्थात्—निघण्टु के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अध्यायों में एक अर्थ वाले पर्याय शब्दों का संग्रह है । और चतुर्थ पञ्चम अध्याय ऐकपदिक कहाता है इसमें अनेकार्थ वाले शब्दों का संग्रह है तथा जिनमें प्रकृति प्रत्यय का विभाग स्पष्ट नहीं है ऐसे अनवगतसंस्कार वैदिक शब्दों (निगमान्) का संकलन है। अग्नि शब्द भी अनेकार्थ है अतः उसका संकलन ऐकपदिक प्रकरण में किया है । वेद में भी—

विदेदग्निर्नभो नामाऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि । (यजु० ५ । ९ ॥)

यहां पृथिवी शब्द लोक वाचक है अतः तृतीय लोक में अग्नि का जो वर्णन किया है वह सूर्य है ।

यह अग्नि शब्द 'अगि गतौ' धातु से भी बनता है । गति के तीन अर्थ होते हैं । ज्ञान गमन और प्राप्ति । गत्यर्थ को लेकर 'न्याय मार्ग में चलाने वाला अर्थ है । और ज्ञानार्थ को लेकर सब विद्या का वेत्ता अर्थ है ।

प्रश्न—निरुक्त में तो लिखा है कि—

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते ऽयमेव सो ऽग्निः ।
(निरुक्त ७ । १८ ॥)

अर्थात्—जहां पूरा सूक्त अग्नि देवता का है या जहां अग्नि के लिये हवि प्रदान बताया गया है वहां अग्नि शब्द का भौतिकाग्नि अर्थ है ।

उत्तर—निरुक्त का प्रधान विषय अधिदैवत है अतः यास्क ने यह बात अपने शास्त्र के प्रधान विषय के दृष्टि कोण से लिखी है ।

(देवता शब्द का अर्थ)

मन्त्रों के देवता जो है उनके सम्बन्ध में महर्षि ने लिखा है कि—

जिस मन्त्र का जो विषय है वह उस मन्त्र का देवता है । कात्यायन ने भी कहा है कि—

उस मन्त्र से जो बात कही जाती है वह उस मन्त्र का देवता है । षड्गुरुशिष्य ने भी ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी की अपनी टीका में लिखा है कि—

उस मन्त्र रूप वाक्य से जो विषय प्रतिपादन किया गया है वह देवता कहाता है । संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८१–२८२ पर देखो ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मन्त्र में जिस देवता की स्तुति की जाती है वह मन्त्र की देवता अधिष्ठात्री देवी और शरीरधारिणी है । यह बात सत्य नहीं क्योंकि मन्त्रों के देवता कहीं पदार्थ भी है जैसे उलूखल (उखली (ऋ० १ । २८ । ५–६ ॥) उखली और मूसल (ऋ० १ । २८ । ७ । ६ ॥), यूप (खम्भा) (ऋ० १ । ३ । ६ । १३–१४), कहीं कहीं कालवाचक शब्द भी मन्त्रों के देवता हैं । जैसे—उषारात्रि (ऋ० १ । ११३ । १ ॥), कालचक्र (ऋ० १ । १६४ । ४८ ॥), इत्यादि । कहीं कहीं भाववृत्त देवता है । भाववृत्त शब्द का अर्थ षड्गुरुशिष्य ने इस प्रकार किया है कि—

भावानां पदार्थानां वृत्तिः सृष्ट्यादिप्रवृत्तिः यस्य देवता तद् भाववृत्तीयमिति प्राप्ते छार्थे ऽण् । (वेदार्थ दीपिका १० । १२६ ॥)

अर्थात्—सृष्टि की उत्पत्ति आदि का जो वर्णन है यह भाववृत्त शब्द का अर्थ है । अतः मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही देवता कहाता है ।

(महर्षि की चतुर्वेदविषयसूची)

चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र में किस किस विषय का वर्णन है इस सम्बन्ध में महर्षि ने जब उन्हें सम्वत् १६३० में ऋषित्व प्राप्त हो गया तब चतुर्वेद विषय सूची नाम का ग्रन्थ ऋषि ने अब से एक सौ वर्ष पूर्व पूरा लिखा था । महर्षि के हस्तलेख पिछले महायुद्ध के समय रक्षार्थ पृथिवी में गाड़ दिये गये थे । वहां से उन्हें निकाला गया । उस में चतुर्वेद विषय सूची नाम का ग्रन्थ भी था जो जराजीर्ण हो चुका था उसके पन्ने चिपक गये थे बड़ी कठिनता से उन्हें छुड़ाया और अत्यन्त आग्रह करके

मैंने परोपकारिणी सभा के अधिकारियों से उसका फोटो कराया । और वर्षों कहते सुनते उसको छपवाया भी । परन्तु यह चतुर्वेदविषयसूची महर्षि का ग्रन्थ अनुत्तर-दायित्वपूर्ण शैली से छापा गया है । महर्षि ने पहले ऋग्वेद के १०५२२ सब मन्त्रों का प्रत्येक का विषय लिखा था । उसके अनन्तर सामवेद के मन्त्रों के विषय अनुपद ही लिखे थे । क्योंकि वेद के अध्ययन करने वालों ने एक मिथ्या किवदन्ती चला दी थी कि ऋग्वेद के मन्त्र ही सामवेद में हैं जो सर्वथा असत्य बात थी । ऋग्वेद के उन्हीं मन्त्रों का पदपाठ शाकल्य ने किया और सामवेद के उन मन्त्रों का पदपाठ गार्ग्य ऋषि ने किया था जो परस्पर एक नहीं है । सामवेद के मन्त्रों का भाष्य गार्ग्य के पदपाठ के अनुसार करना चाहिये था । यह गार्ग्य का पदपाठ सामवेद के भाष्यकारों ने किसी ने भी नहीं देखा था ।

महर्षि ने ऋग्वेद सामवेद के सब मन्त्रों के पृथक् पृथक् विषय बताकर अथर्ववेद के मन्त्रों के विषय लिखे थे क्योंकि यजुर्वेद के मन्त्रों के विषयों के पश्चात् यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय ऋषि ने दिखाये हैं अतः महर्षि का क्रम यह था कि—

ऋग्वेद सामवेद । अथर्ववेद । यजुर्वेद तथा उसकी शाखायें और ब्राह्मण ग्रन्थ पर इस बात को न समझकर चतुर्वेदविषयसूची का मुद्रण ऋक् यजु साम अथर्व इस प्रचलित क्रम से कर दिया और शाखा ब्राह्मण छोड़ दिया । कुछ तो पहले ही गल गया था जो रह गया था वह भी नहीं छापा । इसके अतिरिक्त इसका सम्पादन भी अशुद्धियों से भरा है अतः यह ग्रन्थ हस्तलेख के आधार पर फिर से छपना चाहिये ।

खेद का विषय है कि अथर्ववेद के भाष्यकार पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने तथा सामवेद के भाष्यकार पं० तुलसीराम स्वामी ने तथा महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि और पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ जिन विद्वानों ने महर्षि के ऋग्वेद के बचे वेदभाष्य को पूरा करने का यत्न किया इन सबने चतुर्वेदविषयसूची को उठा कर नहीं देखा । अतः इन सब के वेद भाष्य काल्पनिक ही हैं । ऋषि के किये वेद भाष्य पर भी अपना मन गढन्त वेद भाष्य करने वाले तो अत्यन्त दण्डनीय हैं । आजकल भी वेदों पर भाष्य करने की कुचेष्टा अज्ञानी लोग कर रहे हैं । अपठित वेद श्रद्धालु इस को समझते नहीं हैं ।

महर्षि ने चारों वेदों के जब विषय सब मन्त्रों के लिख दिये तो चारों वेदों का भाष्य हो गया । इस कारण हम महर्षि को चतुर्वेदभाष्यकार कह सकते हैं । क्योंकि मन्त्रों में किस विषय का वर्णन है यह ऋषि ही जान सकते हैं जैसा कि लिखा है कि—

नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा । (निरुक्त १३ । १२ ।।)

अर्थात्—वेद मन्त्रों में क्या लिखा है इसका प्रत्यक्ष ऋषि को ही होता है । विषय ज्ञान हो जाने पर तो हम आचार्य लोग भी भाष्य कर सकते हैं । पर आश्चय

का विषय है कि चतुर्वेद विषय सूची छप जाने पर भी आधुनिक वेदभाष्यकण्डूति वाले उस को अब भी नहीं देखते हैं। जो वेदभाष्य आजकल चारों वेदों के पूर्ण किये जा रहे हैं शताब्दी के नाम पर। एक उदाहरण देता हूँ—

ऋग्वेद में एक मन्त्र है—"सुत्रामाणं पृथिवीं०" ऋ० १० । ६३ । १० ।। यह मन्त्र संस्कारविधि स्वस्तिवाचन प्रकरण में है। इस पर ऋषि का भाष्य नहीं है। अत: इस मन्त्र में जिस दैवी नौका का वर्णन है उस के नाना काल्पनिक अर्थ आजकल के आर्यविद्वान् कर रहे हैं। कोई अर्थ करता है। दैवी नौका=मानवतनू। कोई कहता है दैवी नौका=मुक्तिरूपी नौका इत्यादि अर्थ बिना चतुर्वेद विषय सूची को देखे हो रहे हैं। महर्षि ने इसका देवता यज्ञ लिखा है और यज्ञ के प्रकरण में ही संस्कारविधि में रखा है। प्राचीन ऋषियों ने भी दैवी नौका यज्ञ को माना है।

दैवीह्येषा नौर्यद् यज्ञः। (जे० ब्रा० १ । १६६ ।।)

अर्थात् दैवी नौका यज्ञ है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने सब प्राचीन ऋषियों को पढ़ा था तथा उनकी आर्षदृष्टि स्वयं भी थी। आर्य विद्वान् वहाना टर्राते है कि मन्त्र के अनेक अर्थ होते है अत: यह भी एक अर्थ हमारा सही। मैं उनसे पूछता हूं परमात्मा ने जो २०३४६ मन्त्रों की रचना की है यह व्यर्थ है क्योंकि एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ कर लिये जावेंगे फिर बस एक मन्त्र ही पर्याप्त था।

ऋषि लोग अपने काल की समाप्ति पर तर्क ऋषि दे गये हैं उससे भी सोचकर देखलो नौका पर बैठ कर कहीं पार जाया जाता है। नौका में ही नहीं बैठा रहा जाता है। यदि दैवी नौका मोक्ष है तो उस में बैठ कर और आगे कहां जाओगे प्राचीन ऋषियों ने इस दैवी नौका के अरित्र आदि सबका वर्णन किया है काल्पनिक मानवी तनु आदि अर्थ में सबके काल्पनिक अर्थ करने पड़ेंगे। एक असत्य को छिपाने के लिये सौ असत्य बोलने पड़ते हैं। विस्तृत अर्थ इस मन्त्र का हमारे संस्कारविधिमहाभाष्य में देखो।

अत: अब इन सब अनार्ष और अनार्य वेदभाष्यों को फेंककर चतुर्वेदविषयसूची के आधार पर वेदभाष्य आर्यसमाज की इस दूसरी शताब्दी में होने चाहिये। : यह चतुर्वेदविषयसूची अमूल्य ग्रन्थ रत्न है।

(छन्दो मीमांसा)

महर्षि ने मन्त्रों के छन्दों के सम्बन्ध में लिखा है कि—जिस जिस मन्त्र का जो गायत्री आदि छन्द है उसके ज्ञान के लिये मन्त्रों के छन्द लिखे हैं। कात्यायन ने भी लिखा है कि—अक्षरों का परिमाण छन्द है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८३ पर देखो।

आदौ गायत्रं प्रागहैरण्यस्तूपात्। (ऋ० स० १२ । १४ ।।)

अर्थात्—ऋग्वेद के आरम्भिक सूक्तों का गायत्री छन्द है। 'त्वमग्ने ऋ० १ । ३१ ।।) हिरण्यस्तूप ऋषि वाले से पूर्व पूर्व। उनमें भी जहां विशेष छन्द दिखाया है वहां वही छन्द होगा। जैसे—

गायन्ति द्वादशानुष्टुभं तु । (ऋ० सर्वानु० १ । १० ।।)

अर्थात्—**गार्यन्ति त्वा गायत्रिणो॰** (ऋ० १ । १० ।।) इस सूक्त में १२ ऋचा हैं और अनुष्टुप् छन्द है । यहां अनुष्टुप् छन्द है गायत्री नहीं । उपर्युक्त परिभाषा से **'अग्निमीळे॰'** मन्त्र में गायत्री छन्द है । और यहां त्रिपदा गायत्री है।

कात्यायन ने लिखा है कि ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का त्रिपदा गायत्री छन्द है । और जहां अक्षर संख्या न बताई जावे वहां आठ आठ अक्षर का पाद जानो यह सर्वानुक्रमणी की परिभाषा है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य ने भी लिखा है कि आर्ष छन्द गायत्री दो प्रकार का है या तो आठ अक्षर वाले तीन पाद या छै अक्षर वाले चार पाद की गायत्री होती है तदनुसार यहां आठ अक्षर वाले तीन पाद वाली गायत्री है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८३ पर देखो।

लौकिक साहित्य में भिन्न भिन्न विषय में भिन्न भिन्न छन्द होते हैं। जैसे करुणारस वैतालीय छन्द या मन्दाक्रान्ता छन्द में वर्णित किया जाता है । तोटक दोधक आदि छन्दों में करुणा रस नहीं लिखा जा सकता । इसी प्रकार शान्ति उपदेश में अनुष्टुप् छन्द, चन्द्रोदयादि के वर्णन में रथोद्धता छन्द, राजनीति में वंशस्थ छन्द, वीर और रौद्र रस में बसन्ततिलका छन्द, क्रोध और धिक्कार में पृथिवी छन्द, वर्षा प्रवास दुःख में मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाओं की स्तुति में शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रशस्त है। विस्तृत वर्णन संस्कृत में पृष्ठ २८४ पर देखो। मन्त्रों को छन्दों रचना पर तथा एकाक्षरादि न्यून अधिक पर विस्तृत विवेचन आवश्यक है। छन्दों के देवता वर्ण गोत्र आदि विषय भी विवेचनीय हैं । वैदिक निधि अपार है। वैदिक छन्द भी लौकिक छन्दों के समान अर्थसापेक्ष हैं। इस पर भी विश्वप्रदीप में लिखा जावेगा। छन्दों की पाद रचना भी अर्थानुसारिणी है जैसा जैमिनि ने लिखा है कि—

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । (मीमांसा २ । १ । ३५ ।।)

अर्थात्—जिनमें अर्थ के अनुसार पाद रचना हो वे ऋचाएं कहाती हैं। **'अग्निः पूर्वेभि॰'** मन्त्र के सम्बन्ध में शवर का कथन युक्तिसंगत नहीं है । अतः महर्षि ने 'अग्निः पूर्वेभि॰' मन्त्र में द्वितीय पादगत 'नूतनैः' शब्द की स्वतन्त्र व्याख्या की है और इसी लिये—

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः देवेभिरग्न आ गहि ॥

(ऋ० १ । १४ । २ ।।)

यहां **गृणन्ति** पद में उदात्त इसी लिये है।

किसी भी छन्द में एक अक्षर कम हो तो उसे निचृत् कहते हैं। दो अक्षर कम हों तो उस की विराट् संज्ञा है। इसी प्रकार छन्द में एक अक्षर अधिक हो तो उस की भुरिक् संज्ञा है। और दो अक्षर अधिक हों तो उस की संज्ञा स्वराट् है।
(द्र० पिङ्गल ३ । ५९ । ६० ॥)

इस प्रथम सूक्त में द्वितीय ऋचा निचृत् गायत्री है। अष्टमी और नवमी ऋचा विराट् गायत्री हैं।

तीन पाद वाले मन्त्र में पहले और अन्तिम पाद में अधिक अक्षर हों और मध्य के पाद में अक्षर कम हों तो उस को पिपीलिकामध्या कहते हैं। और यदि पहला और अन्तिम पाद कम अक्षर वाला हो तथा मध्यम पाद में अधिक अक्षर हों तो उस को यवमध्या कहते हैं। (द्र० पिङ्गल ३ । ५७, ५८ ॥)

इस सूक्त में द्वितीय ऋचा पिपीलिकामध्या गायत्री है। अष्टमी ऋचा यवमध्या गायत्री है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और कात्यायन सामान्य रूप से 'गायत्री' इतना ही कहते हैं।

इस सबकी पूर्ण स्थिति इस प्रकार है।

ऋचाओं की पाद रचना अर्थानुसारिणी है। इस विषय में भाष्यकारों का मत इस प्रकार है—

१—पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः।
(वेङ्कट माधव छन्दो ऽनुक्रमणी)

अर्थात्—पाद पाद में अवान्तर अर्थ पूरे कहे जाते हैं।

२—प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः॥
छन्दो ऽनुक्रमणी तस्माद् ग्राह्या सूक्ष्मेक्षिकापरैः॥
(माधव कृत आख्यातानुक्रमणी का उपोद्घात[1])

१—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित ग्रन्थ सं० २ ऋग्वेदानुक्रमणी का परिशिष्ट पृष्ठ C IX (१०९)

अर्थात्—प्रत्येक पाद में अवान्तर अर्थ कुछ होते हैं। बुद्धि से विचारित समुदायार्थ ही पूर्ण ऋचा का अर्थ होता है। अतः छन्दोऽनुक्रमणी सूक्ष्म अर्थ चाहने वालों के लिये आवश्यक है।

३—ऋगर्थः प्रतिपादं च कश्चित् कश्चिदवान्तरः।
तेषामवान्तरार्थानां सिद्धो मन्त्रार्थ इष्यते ॥

(माधव[१])

अर्थात्—प्रतिपाद ऋचा में अर्थ विशेष होता है। अवान्तर अर्थों का सिद्ध अर्थ मन्त्रार्थ माना जाता है।

४—सायण ने ऋग्वेद भाष्य की उपक्रमणिका में यह स्वीकार करके भी कि छन्दों का ज्ञान वेदार्थ में उपयोगी है सिद्ध नहीं किया। तथा स्कन्द स्वामी ने छन्द ज्ञान को वेदार्थ में आवश्यक नहीं बताया उस का कहना है कि—

तत्रार्षदैवतयोरर्थविबोधन उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते।

न छन्दः अनुपयुज्यमानत्वात् ॥

(स्कन्द ऋ० भाष्य के आरम्भ में)

अर्थात् मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में ऋषि देवता आवश्यक हैं पर छन्द का अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं अतः ऋषि देवता दिखाये जावेंगे। छन्द नहीं।

५—इसका खण्डन जयतीर्थ करता है कि—

एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति।

(मध्वरचित ऋग्भाष्य की टीका)

अर्थात्—छन्दों का ज्ञान वेदार्थ में उपयुक्त नहीं यह मत अशुद्ध है। पर जयतीर्थ सायण के समान इस को सिद्ध नहीं कर सका।

जहां अर्थ के कारण पाद व्यवस्था होती है वह ऋचा कहाती है। मीमांसा के इस सूत्र २।१।३५ की व्याख्या में शबर स्वामी लिखता है कि यह प्रायिक है कहीं-कहीं छन्दों के अक्षरों के दृष्टिकोण से भी पाद व्यवस्था होती है। यह शबर का कथन ठीक नहीं है। ऐसा ही शाबरभाष्य का व्याख्याता कुमारिल भट्ट मानता है कि—

१—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित ग्रन्थ सं० २ ऋग्वेदानुक्रमणी का परिशिष्ट पृष्ठ C VII (१०७)।

एतस्य तु प्रदर्शनार्थत्वात् न वृत्तवशव्यावृत्तिरिति ।

अर्थात्—अर्थानुसारिणी पादव्यवस्था वाली ऋचा होती है यह प्रदर्शनमात्र है। जहां वृत के कारण पादव्यवस्था है वह भी ऋचा है। उनका अभिप्राय यह है कि—

"अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒, ईड्यो॒ नूत॑नैरु॒त"

यहां पूर्व पाद में अर्थसमाप्ति नहीं है क्योंकि क्रिया दूसरे पाद में है। पर इस सम्बन्ध में निदान सूत्रकार का कहना है कि—

अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति ।
आचतुरक्षरताया इत्येके । आदशाक्षरतायाः अभिक्रामति ।।

(निदान सूत्र पृष्ठ १)

अर्थात्—प्रत्येक छन्द पांच या चार अक्षर तक न्यून किया जा सकता है और दश अक्षर तक बढ़ाया जा सकता है।

इस परिभाषा के अनुसार—

"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः", यह प्रथम पाद होगा और **"नूतनैरुत"** यह दूसरा पाद होगा।

अर्थात्—प्रथम पाद आठ अक्षर के स्थान पर १० अक्षर का हो जायेगा और दूसरा पाद दो अक्षर न्यून होकर पांच अक्षर का बनेगा। एकाक्षर न्यूनता निचृत् के कारण है ही। अतः ऋषि दयानन्द सरस्वतीजी ने इसी लिये—

(नूतनैः) वेदार्थाध्येतृभिः ब्रह्मचारिभिः तर्कैः, कार्यस्थैर्विद्यमानैः प्राणैर्वा ।

ऐसा स्वतन्त्र अर्थ किया है।

पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः ।

यह जैमिनि न्यायमाला का मत है। इसके अतिरिक्त यह भी समझो कि व्याकरणादि में जो नियम बनाये जाते हैं वे भी भाषा की व्यावहारिकता को देखकर बताये जाते हैं। भाषा पहले है व्याकरण बाद में है।

"आ त्वा कण्वा:" मन्त्र में तीन क्रियायें हैं अहूषत, गृणन्ति और आ गहि। इनमें अहूषत और गहि निघात हैं पर गृणन्ति उदात्त है। द्वितीय पाद के अर्थ को प्रधानता है क्योंकि हम स्तुति करते हैं अतः स्तुति के अधीन बुलाना और आना है। प्रधान वाक्य जिस में गृणन्ति है वह उदात्तवान् है।

एक विशेष उदाहरण—

गूहता गुह्यं, तमो वि यात विश्वमत्रिणम् ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि।

ऋ० १। ८६। १०॥

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में—

गूहत गुह्यम् यह एक पाद है। तथा दूसरा पाद **"तमो वि यात विश्वमत्रिणम्"** है। प्रथम पाद में सात अक्षर के स्थान पर निचृत्[1] के कारण निदानसूत्र की परिभाषा के अनुसार दो अक्षर कम करके प्रथम पाद पांच अक्षर का है और दूसरा पाद आठ अक्षर के स्थान पर दो अक्षर बढ़ा कर दश अक्षर वाला है। उसके अनुसार ऋषि का अर्थ है—(गुह्यम) गुप्त करने योग्य व्यवहार को (गूहत) ढांपो। यह सभाध्यक्षादि का कर्त्तव्य है तथा (विश्वम्) समस्त (तमः) अविद्या रूपी अन्धकार को जो कि (अत्रिणम्) उत्तम सुख का विनाश करने वाला राक्षस रूप है उसको (वि यात) दूर पहुंचाओ। तथा हम लोग (यत्) जो (ज्योतिः) विद्या के प्रकाश को (॰ ॰ सि) चाहते हैं उसको (कर्त) प्रकट करो। **(गूहता कर्ता** इत्यत्र सांहितिको दीर्घः)।

पर सायणाचार्य इसको न समझ कर अर्थ करता है कि—

हे मरुतों (गुह्यं) गुहा में स्थित (तमः) अन्धकार को (गूहत) ढांपो और (विश्वम्) सब (अत्रिणम्) नाशक राक्षसादि को (वि यात) हमारे संमुख से हटाओ (यत् ज्योतिः) जिस सूर्यादि को हम (उश्मसि) चाहते हैं उसको (कर्त) करो।

सायण का अन्वय है—

गुह्यं तमो गूहत। विश्वम् अत्रिणम् वियात। पर महर्षि का अन्वय है **गुह्यं गूहत। विश्वं तमो ऽत्रिणं वि यात।**

अत्रिणम्—राक्षसरूप। "अत्रिणो वै रक्षांसि पाप्मानो ऽत्रिणः प० ब्रा० ३। १॥ रक्षांसि वै पाप्मा ऽत्रिणः। ऐ० ब्रा० २। २।" राक्षसाः परसुख-

१—एक अक्षर कम होने पर वह छन्द निचृत् कहाता है।

स्याचारः । अदन्तीति अचारः । 'अदेस्त्रिनिश्च' उणा० ४ । ६८ । इति अद् धातोः त्रिनि त्रिप् च भवतः । अद् + त्रिन् = अत्रिन् । अत्रिर्णामिति पुंसि द्वितीयैकवचनम् । त्रिप् प्रत्यये अत्रिः ऋषिः । इति महर्षि संपादिते वेदाङ्गप्रकाश उणादिकोषे । तथैव सायणः तत्त्वबोधिनीकारश्च वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याम् । उज्जलदत्तः, प्रक्रियासर्वस्वकारो नारायणः, श्वेतवनवासी च 'अदेस्त्रिन्' इति पठन्ति । अत्रिः ऋषिरिति केवलम् । दशपाद्युणादिवृत्तौ तु 'अदेस्त्रिनिच्च' इति पाठः । तत्र त्रिनिच् इत्यत्र चकारो व्यर्थः । त्रिन् इति नकारन्ते प्रत्यये प्रत्यय-स्वरेणैवान्तोदात्तत्वात् । चितो ऽन्तोदात्त इति पिष्टपेषणम् । गोवर्धनस्तु 'अदेस्त्रिन् निच्च' इति पठति । तत्र नित्वादाद्युदात्तः स्यात् । अत्रिन् शब्दस्तु अन्तोदात्तो वेदे । अतः आह पेरुः सूरिरौणादिकपदार्णवे 'अदेस्त्रिन् इति अदेस्त्रिन् निच्च इति पाठौ त्वनाकरौ ।

छन्दों की अक्षर गणना इस प्रकार है । गायत्री छन्द २४ अक्षर का होता है । उष्णिक् छन्द २८ अक्षर का होता है । इस प्रकार क्रमशः आगे आने वाले छन्दों में चार चार अक्षर बढ़ाते जाओ । प्रथम सप्तक ४८ अक्षर पर समाप्त होता है । द्वितीय सप्तक ५२ अक्षर से प्रारम्भ होकर ७६ अक्षर तक जाता है और तृतीय सप्तक ८० अक्षर से प्रारम्भ होकर १०४ अक्षर तक चलता है । इसके आगे प्रगाथ कहाते हैं ।

(षड्ज आदि स्वर व्यवस्था)

इस सूक्त में षड्ज स्वर ऋषि ने लिखा है । अभिप्राय यह है कि यह मन्त्र षड्ज स्वर पर गाना चाहिये । महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि—

कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जानने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं । जैसे गायत्री छन्द वाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये । ऐसे ही और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों । इसी लिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं ।

(ऋ० भा० भू० श० सं० पृष्ठ ६६१-६६२ ॥)

इस की व्यवस्था इस प्रकार समझो—

१-षड्ज । २-ऋषभ । ३-गान्धार । ४-मध्यम । ५-पञ्चम । ६-धैवत । ७-निषाद ।

ये सात स्वर हैं। इसी प्रकार छन्द भी सात हैं—

१–गायत्री। २–उष्णिक्। ३–अनुष्टुप्। ४–बृहती। ५–पङ्क्ति। ६–त्रिष्टुप्। ७–जगती।

ऐसा ही पिङ्गल तथा वेदाङ्गछन्दोग्रन्थ में लिखा है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८६ पर देखो। हलायुध ने पिङ्गल सूत्र ३।६४ की व्याख्या में लिखा हैं कि—

षडजर्षभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः।
(हलायुध ३।६४॥)

अर्थात्—गायत्री षड्ज स्वर में, उष्णिक् ऋषभस्वर में अनुष्टुप् गान्धार स्वर में, बृहती मध्यम स्वर में, पङ्क्ति पञ्चम स्वर में, त्रिष्टुप् धैवत स्वर में, और जगती निषाद स्वर में गानी चाहिये।

छन्दों के तीन सप्तक हैं उनमें से प्रथम सप्तक गायत्री आदि का है। दूसरा सप्तक—

१–अतिजगती। २–शक्वरी। ३–अतिशक्वरी। ४–अष्टि। ५–अत्यष्टि। ६–धृति। ७–अतिधृति।

इनके भी क्रमशः षड्ज आदि स्वर होते हैं।

तीसरा सप्तक इस प्रकार है—

१–कृति। २–प्रकृति। ३–आकृति। ४–विकृति। ५–संस्कृति। ६–अभिकृतिः। ७–उत्कृतिः।

इन छन्दों के अन्य नाम निदान सूत्र में इस प्रकार हैं—

१–सिन्धु। २–सलिलम्। ३–अम्भः। ४–गगनम्। ५–अर्णवः। ६–आपः। ७–समुद्रः।

महर्षिनिर्मित छन्दः सूची अभी परोपकारिणी सभा के संग्रह में ही अमुद्रित पड़ी है अतः तृतीय सप्तक के स्वर विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस समय महर्षि के हस्तलेखों में ढूंढने पर मुझे नहीं मिली अतः मैं उस को देख न सका इस से

पूर्व मैंने स्वयं देखी थी। वेङ्कट माधव ने इन छन्दों के सम्बन्ध में लिखा है कि गायत्री आदि १४ छन्द ऋग्वेद में होते हैं। तृतीय सप्तक के छन्द अन्य वेद में है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८७ पर देखो।

भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में इन्हीं सात षड्ज आदि स्वरों का वर्णन किया है। संस्कृत प्रमाण पृष्ट २८८ पर देखो।

नारद ने षड्ज आदि स्वरों के लक्षण लिखे हैं कि—

मोर षड्ज स्वर बोलता है। बैल ऋषभस्वर उच्चारण करता है, बकरी गान्धार स्वर को, क्रौञ्ची मध्यमस्वर को, कोइल पुष्पोद्गम समय में पञ्चमस्वर को, घोड़ा धैवतस्वर को और हाथी निषादस्वर को उच्चारण करता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८८ पर देखो।

(स्वर का लक्षण)

स्वरयति मनांसीह श्रोतॄणां स्वार्थतो यतः।
षड्जादिकाः स्वरास्तेन ते च साध्यक्षराभिधाः॥

(नृपति कुम्भकर्ण प्रणीत संगीतराज)

अर्थात्—श्रोताओं के मनों को आकृष्ट करने वाले स्वर कहाते हैं।

(षड्जस्वर का लक्षण)

छै स्थानों से जो उच्चारण किया जावे उसको षड्जस्वर कहते है वे स्थान ये है—

१—नासिका, २—कण्ठ, ३—वक्षस्थल ४—तालु, ५—जिह्वा, ६—दन्त।

इन छै स्थानों से षड्जस्वर उन्पन्न होता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८८ पर देखो। अन्य स्वरों के उत्पत्ति स्थान इस प्रकार है—

कण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः शिरसस्त्वृषभः स्मृतः।
गान्धारस्त्वानुनासिक्य उरसो मध्यमः स्वरः॥
उरसः शिरसः कण्ठादुत्थितः पञ्चमः स्वरः।
ललाटाद् धैवतं विद्यान् निषादं सर्वसन्धिजम्॥

(नारदीय शिक्षा)

अर्थात्—कण्ठ से षड्ज उत्पन्न होता है, शिर से ऋषभ स्वर निकलता है, गान्धार स्वर अनुनासिक है, वक्षस्थल से मध्यम स्वर की उत्पत्ति है, वक्षस्थल, शिर और कण्ठ ये पञ्चम स्वर के उत्पत्ति स्थान हैं। इसी प्रकार ललाट से धैवत और सब सन्धि स्थलों से उत्पन्न निषाद को जानो। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

निषीदन्ति स्वरा यत्र तं निषादं बुधा जगुः ।
योगरूढिवशादेते न नियोज्या निरुक्तितः ।।

मन्द्रं मध्यं च तारं च तेषां स्थानं त्रिधा मतम् ।
स्वरा अपि त्रिधा तेन भिद्यन्ते स्थानभेदतः ।।

(नृपति कुम्भकर्ण प्रणीत संगीतराज)

(षड्ज आदि स्वरों का विवेचन)

शब्द और अर्थ आकाश के समान व्यापक होने से कूटस्थ हैं। षड्ज आदि का नाम स्वर इस लिये है क्योंकि ये षड्ज आदि आकाश में स्वयं विराजमान रहते हैं। स्व (स्वयं) रा (राजमान) होने से स्वर कहाते हैं। इन षड्ज आदि सात स्वरों में दो स्वर षड्ज और पञ्चम अचल हैं। पञ्चम की षड्ज ही प्रकृति है तथा अन्य स्वरों ऋषभ गान्धार मध्यम धैवत निषाद की भी षड्ज ही प्रकृति है। इन स्वरों में पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग भाव होता है। पूर्वाङ्ग में षड्ज ही अचल होता है क्योंकि षड्ज से ही आरम्भ होता है। उत्तराङ्ग में पञ्चम अचल होता है क्योंकि पञ्चम से प्रारम्भ होता है। पूर्वाङ्ग उत्तराङ्ग में जिस स्वर की प्रथम स्थापना होती है वह ही कूटस्थ होता है। अन्य स्वर विवादी और संवादी होते हैं। इन स्वरों की अनेक श्रुतियां होती हैं।

भरत नाटयशास्त्र में २२ श्रुतियां बताई हैं। उनमें षड्ज मध्यम और पञ्चम स्वर में चार चार श्रुतियां होती है। निषाद और गान्धार स्वर में दो दो श्रुतियां होती हैं। ऋषभ और धैवत में तीन तीन श्रुतियां होती है। उन के नाम प्रकार हैं—

१–तीव्रा। २–कुमुद्वती। ३–मन्द्रा। ४–छन्दोवती।
ये चार षड्ज की श्रुतियां हैं।

५–दयावती। ६–रञ्जनी। ७ रक्तिका।
ये तीन ऋषभ की श्रुतियां हैं।

८–रौद्री। ९– क्रोधा।
ये दो गान्धार की श्रुतियां हैं।

१०–वज्रिका । ११–प्रसारिणी । १२–प्रीति । १३–मार्जनी ।
ये चार मध्यम की श्रुतियां हैं ।

१४–क्षिति । १५–रक्ता । १६–संदीपिनी । १७–आलापिनी ।
ये चार पञ्चम की श्रुतियां हैं ।

१८–मदन्ती । १९–रोहिणी । २०–रम्या ।
ये तीन धैवत की श्रुतियां हैं ।

२१–उग्रा । २२–क्षोभिणी ।
ये दो निषाद की श्रुतियां हैं ।

इन्हीं श्रुतियों के अन्य नाम इस प्रकार हैं—

१–नान्दी । २–चालनिका । ३–रसा । ४–सुमुखी । ५–चित्रा । ६–विचित्रा । ७–घना । ८–मातङ्गी । ९–सरसा । १०–अमृता । ११–मधुकरी । १२–मैत्री । १३–शिवा । १४–माधवी । १५–वाला । १६–शार्ङ्गरवी । १७–कला । १८–कलरवा । १९–माला । २०–विशाला । २१–जया । २२–मात्रा । संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २९० पर देखो ।

द्वाविंशतिविधो मन्द्रो नादः संजायते हृदि ।
यथोत्तरमसौ तारः पूर्वपूर्वाभिकाङ्क्षया ॥
ध्वनिः संजायते देहे वीणायां तद् विपर्ययात् ।
स एव द्विगुणो मध्यः कण्ठस्थाने यथाक्रमम् ॥
स एव मस्तके तारः स्यात् मध्याद् द्विगुणः क्रमात् ।
त एव ध्वनयस्तत्र श्रवणात् श्रुतिसंज्ञकाः ।
शृणोतेः श्रवणार्थस्य भावे क्तिप्रत्यये श्रुतिः ।
श्रूयन्ते इति वा कर्मसाधनो ऽप्ययमिहेष्यताम् ।
श्लिष्टा सुषुम्णया नाड्यो हृदि द्वाविंशतिः स्थिताः ।
तिरश्चीनास्तथा कण्ठे तावत्यश्चैव मूर्धनि ।
मरुदाहतितस्तासु जायन्ते ये पृथक् स्वनाः ।

त एव श्रुतयस्तत्र स्वराभिव्यक्तिहेतवः ।
ऊर्ध्वमुद्यन् हृदाकाशे पूर्यते प्रेरितो ध्वनिः ।
नानास्थानोपाधिभेदाद् यो नाना प्रतिभासते ।
तं मतङ्गः श्रुतिं प्राह मेघे हर्षति रश्मिवत् ।
षड्जे कान्ता प्रभावत्यौ सिद्धिश्चैव तु सुप्रभा ।
उग्रा शिखा च दीप्ता च स्युरेता ऋषभानुगा ।।
निर्हृतिर्ह्लादिनीति द्वे गान्धारे वसतः श्रुती ।
क्षान्तिः सर्वसहा धीरा विभूतिर्मध्यमे स्थिताः ।।
मालिनी चपला लीला तथा रत्नप्रभावती ।
चतस्रः पञ्चमे ज्ञेया धैवतश्रुतयः पुनः ।
विकल्पिनी च शान्ता च हृदयोन्मूलिनी तथा ।
विस्तारिणी प्रसक्ता च निषादस्य श्रुती उभे ।

(नृपति कुम्भकर्ण प्रणीत संगीतराज)

अर्थात्—नृपति कुम्भकर्ण का दृष्टिकोण यह है कि सुषुम्णा नाडी से मिली हुई हृदय में २२ नाडियां हैं। वायु के आघात से इन २२ पर जो ध्वनियां पृथक् पृथक् होती हैं जैसे मेघ के गरजने पर बिजली की किरणों का कम्पन। वे ही श्रुति कहाती हैं। इन २२ ध्वनियों का ज्ञान अतिनिपुण गायनाचार्य को ही हो सकता है। उन २२ श्रुतियों के नाम पूर्व बताये जा चुके हैं। कुम्भकर्ण इन के अन्य नाम लिखता है जो इस प्रकार हैं—

१–षड्ज की चार श्रुतियों के नाम—

कान्ता, प्रभावती, सिद्धि, सुप्रभा।

२–ऋषभ की तीन श्रुतियों के नाम—

उग्रा, शिखा, दीप्ता।

३–गान्धार की दो श्रुतियों के नाम—

निर्हृति, ह्लादिनी।

४–मध्यम स्वर की चार श्रुतियों के नाम—

क्षान्ति, सर्वसहा, घोरा, विभूति ।

५–पञ्चम की चार श्रुतियों के नाम—

मालिनी, चपला, लीला, रत्नप्रभावती ।

६–धैवत की तीन श्रुतियों के नाम—

विकल्पिनी, शान्ता, हृदयोन्मूलिनी ।

७–निषाद की दो श्रुतियों के नाम—

विस्तारिणी, प्रसक्ता ।

दो प्रकार के नाम पूर्व लिखे जा चुके हैं ।

१–षड्जस्य लक्षणादिकम्—

इसकी व्युत्पत्ति और उच्चारण स्थान पूर्व बताया जा चुका है ।

अस्यैकस्तालः । अस्याष्टौ भेदा भवन्ति अस्यार्च्चिकं नाम । अर्थात् एकस्वरमिलितः । सर्वस्वरापेक्षया क्षुद्रस्वरो ऽयम् ।

२ ऋषभस्य लक्षणादिकम्—

नाभिमूलाद् यदा वर्ण उत्थितः कुरुते ध्वनिम् ।
वृषभस्येव निर्याति हेलया ऋषभः स्मृतः ॥

(इति संगीत दामोदरः)

नाभेः समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः ।
ऋषभस्येव नादं यद् तस्माद् ऋषभ ईरितः ॥

(इति संगीत समयसार)

३ गान्धारस्य लक्षणादिकम्—

वायुः समुद्गतो नाभेः कण्ठशीर्षसमाहतः ।
नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना ॥

(इति भरतः)

अपि च

नाभेः समुद्गतो वायुर्गन्धं श्रोत्रे च चालयन् ।
सशब्दस्तेन निर्याति गान्धारस्तेन कथ्यते ॥

करुणारस एवास्योपयोगित्वम् । गन्ध एव गान्धः स्वार्थे ऽण् । गान्धं ऋच्छतीति गान्धारः । कर्मण्यण् ।

४ मध्यमस्य लक्षणादिकम्—

सप्तस्वराणां मध्ये स्थितः अतो ऽयं मध्यमः । अस्य तानाः चतुर्विंशतिः । तेषां प्रत्येकं द्वात्रिंशद् भेदेन ७६८ भवन्ति ।

५ पञ्चमस्य लक्षणादिकम्—

पञ्चमानां स्वराणां पूरणः पञ्चमः ।

वायुः समुद्गतो नाभेः उरोहृत्कण्ठमूर्धसु ।
विचरन् पञ्चस्थानप्राप्त्या पञ्चम उच्यते ॥
प्राणो ऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
एतेषां समुदायेन जायेत पञ्चमः स्वरः ॥
(इति संगीत दामोदरः)

अस्योच्चारणजातिः पिकः । अस्य कूटतानाः विंशत्यधिकशतम् १२० । प्रत्येकताने चत्वारिंशत् ४० । समुदायेन चतुःसहस्राष्ट शतानि ४८०० ताना भवन्ति ।

६ धैवतस्य लक्षणादिकम्—

गत्वा नाभेरधोभागं वस्तिं प्राप्योर्ध्वगः पुनः ।
धावन्निव च यो याति कण्ठदेशं स धैवतः ॥

धीमतामयं धैवतः । धीमन् + अण् । पृषोदरादित्वात् मस्य वः । तानसेनमते भेकस्वरतुल्यः । अस्य तानाः ७२० । प्रत्येकतानम् ४८ । समुदायेन ३४५६० भवन्ति ।

७ निषादस्य लक्षणादिकम्—

इसका लक्षण पूर्व बताया जा चुका है ।

निषीदन्ति स्वराः इत्यादि । नारदमते हस्तिस्वरतुल्यः । अस्य ताना कूटतानाः ५०४० । प्रत्येकतानम् ५६ । समुदायेन २८२२४० भवन्ति ।

तानलक्षणम्—

विस्तार्यन्ते प्रयोगा यैर्मूर्च्छनाशेषसंश्रयाः ।
तानास्ते ऽप्यूनपञ्चाशत् सप्तस्वरसमुद्भवाः ।
तेभ्य एव भवन्त्यन्ये कूटतानाः पृथक् पृथक् ।
ते स्युः पञ्चसहस्राणि त्रयस्त्रिंशतच्छतानि च ।

(इति संगीत दामोदर)

अर्थात्—षड्जः=छै स्थानों से उत्पन्न । ऋषभः—बैल के समान स्वर । गान्धारः=गन्ध को धारण करने वाला । मध्यमः=सातों स्वरों के मध्य में स्थित । पञ्चमः=पांच प्राणों से उत्पन्न या सात स्वरों में पांचवां । धैवत=कण्ठदेश को दौड़ता जो स्वर आता है । निषाद=जिस में सातों स्वर स्थित होते हैं ।

वेदों से सप्त स्वरों की उत्पत्ति ।

ऋग्वेदात् षड्जऋषभौ यजुषो मध्यमधैवतौ ।
सामवेदात् समुद्भूतौ तथा गान्धारपञ्चमौ ।।

(इति रत्नावली)

संस्कृत भाग स्पष्ट है ।

(स्वरों की उदात्तादि व्यवस्था)

निषाद और गान्धार स्वर उदात्त से गाये जाते हैं ।

ऋषभ ग्रौर धैवत स्वर अनुदात्त से गाये जाते हैं ।

षड्ज मध्यम और पञ्चम स्वर स्वरित से गाये जाते हैं ।

इन सब के संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८९ से २९५ तक देखो । और चित्र पृष्ठ २९० पर देखो ।

इन सब का विशेष वर्णन विश्वप्रदीप में लिखा जावेगा । परिशिष्ट में भी इन की व्यवस्था बताई जावेगी ।

(अवग्रहादि विचार)

मन्त्रपाठ को संहिता पाठ कहते हैं । इसी का नाम निर्भुज संहिता है । मन्त्रों के पदों को अलग करने का नाम पदपाठ है । इसी को प्रतृण्ण संहिता भी कहते हैं । जैसे—

संहितापाठ—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् । होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ।

पदपाठ—

अ॒ग्निम् । ई॒ळे॒ । पु॒रः ऽहि॑तम् । य॒ज्ञस्य॑ । दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् । होता॑रम् । र॒त्न॒ऽधात॑मम् ।

पदपाठ में दो मिले हुए (समस्त) पदों के बीच में ऽ इस प्रकार का चिह्न डाला जाता है । इसको ग्रवग्रह कहते हैं । जैसे—**पुरः ऽ हितम्** । इन दोनों पदों में एक मात्रा काल व्यवधान माना जाता । हाथ की नाडी जितनी देर में एक वार चलती है उसको एक मात्रा काल कहते हैं । यही ह्रस्व का उच्चारण काल है । दीर्घ अक्षर को दो मात्रा काल में बोलते हैं । अर्थात् जितनी देर में नाडी दो बार चले वह दीर्घ ग्रक्षर का उच्चारण काल है । इसी प्रकार प्लुत ग्रक्षर तीन मात्रा काल में बोला जाता है ग्रर्थात् जितनी देर में नाडी तीन बार धड़के । ओ३म् को केवल तीन मात्रा काल में बोले । इस से अधिक नहीं ।

(उदात्त अनुदात्त स्वरित चिह्न व्यवस्था)

उदात्त आदि स्वरों का साधारण नियम यह है कि—

उदात्त अक्षर पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। जैसे—क

अनुदात्त अक्षर पर नीचे रेखा डाली जाती है। जैसे—क॒

स्वरित अक्षर पर ऊपर खड़ी रेखा डालते हैं। जैसे—क॑

उदात्त के आगे जो अनुदात्त होता है वह स्वरित हो जाता है। जैसे—विश्व॒नि के स्थान पर विश्वा॑नि हो जावेगा और स्वरित के आगे जो अनुदात्त होता है उस को प्रचय हो जाता है इसी को एक श्रुति कहते हैं। जैसे—विश्वा॒नि यहां वि उदात्त से आगे के अनुदात्त को स्वरित हुआ उस स्वरित से अगले अनुदात्त को प्रचय हुआ। एकश्रुति या प्रचय पर भी कोई चिह्न नहीं लगाया जाता जैसे उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। स्वरित के बाद जो बिना रेखा चिह्न के अक्षर हों उन खाली अक्षरों को प्रचय समझो अर्थात् ये भी स्वरित ही हैं। परन्तु शब्द के प्रारम्भ में या अनुदात्त के बाद जो स्वर चिह्न रेखा रहित खाली अक्षर है उस को उदात्त जानो। जिस पद में सब अक्षर अनुदात्त ही होते हैं उस को निघात कहते है।

तैत्तिरीय संहिता में पदपाठ के समय दो पदों के बीच एक मात्रा काल व्यवधान होने से उदात्त के आगे वाले अनुदात्त को स्वरित और प्रचय नहीं होता है। जैसे—

प्र॒जाव॑ती॒रिति॑—प्र॒जाऽव॒ती॒ः। यहां 'जा' उदात्त से आगे के अनुदात्तों व॒ती॒ को स्वरित और प्रचय नहीं हूआ।

यजुर्वेद की संहिताओं में जब पदपाठ करते है तब समस्त पदों को दो बार लिखते हैं और दोनों के बीच में इति और जोड़ देते हैं जैसे—"प्र॒जाव॑ती॒ः इति॑ प्र॒जाऽव॒ती॒ः।" दुबारा उच्चारण किये में अवग्रह दिखाते हैं। सामवेद के पदपाट में भी समस्त पदों को दो बार लिखते हैं पर बीच में इति नहीं लगाते है जैसे—

३ २ ३ ३ १ २
हव्यदातये हव्यऽदातये।

परन्तु ऋग्वेद और अथर्व वेद के पदपाठ में शब्द को दो बार नहीं लिखते हैं। बस पदों को अलग अलग करते हुए यदि कोई समस्त पद आता है तो एक बार ही लिख कर दोनों के बीच में ऽ अवग्रह चिह्न लगा देते हैं। जैसे—**पुरःऽहितम्।**

जिस प्रकार पदपाठ करते हुए दो पदों के बीच में एक मात्रा काल का व्यवधान होने से तैत्तिरीय संहिता में उदात्त से अगले अनुदात्तों को स्वरित प्रचय नहीं होता है। ऐसा ऋग्वेद में नियम नहीं है। ऋग्वेद में तो पदपाठ में समस्त पदों में अवग्रह होने पर भी उदात्त से अगले अनुदात्तों को स्वरित और प्रचय हो जाता है। जैसे—

पुरःऽहितम् के स्थान पर **पुरःऽहितम्** हो जाता है। क्योंकि ऋग्वेद के प्रातिशाख्य का यह सिद्धान्त है कि जिस प्रकार सर्वत्र उदात्त से अगले अनुदात्त को स्वरित और प्रचय होता है इसी प्रकार पदपाठ में एक मात्रा काल व्यवधान होने पर भी उदात्त से अगले अनुदात्तों को स्वरित प्रचय होता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २६१–२६२ पर देखो।

वेद के किसी शब्द में यदि तीन भाग हों तो अन्तिम भाग को अवग्रह से पृथक् किया जाता है परन्तु 'वीतम' 'हूतम' 'सूतम' 'गोपातम' 'रत्नधातम' 'वसुधातम' इन शब्दों में पहले पद पर अवग्रह दिखाया जावेगा। अतः रत्न धा तमः इन तीन भागों में अन्तिम तमः को अवग्रह से पृथक् नहीं किया जावेगा। प्रत्युत पहले शब्द को अवग्रह से अलग किया जावेगा। जैसे—रत्नऽधातमः। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २६२–२६३ पर देखो।

(ळकार की व्यवस्था)

दो स्वर अक्षरों के बीच में जब डकार आता है तब ड को ळकार हो जाता है। और ढकार को ळ्हकार हो जाता है।

'अग्निमीळे' यहां ईकार और एकार के बीच में डकार है अतः उसको ळकार हो गया। और साढा का साळ्हा हो जाता है। देखो ऋ० ७। ५६। २३। ऐसा ऋग्वेद प्रातिशाख्य में वर्णन है।

द्वयोश्च स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥

ऋग्वेद प्रातिशाख्य १। ५२॥

मन्त्रों के ऋषियों के सम्बन्ध में भी कात्यायन से महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का मतभेद

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द लिखे हैं। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती देवता और छन्दों के सम्बन्ध में तो मतभेद रखते ही हैं। पर किस मन्त्र का कौन ऋषि है इस विषय में भी महर्षि का मतभेद है जैसे—

ऋ० ३ मण्डल, ३३ सूक्त में १३ ऋचा हैं महर्षि सम्पूर्ण सूक्त का ऋषि विश्वामित्र मानते हैं और सम्पूर्ण सूक्त का देवता नदी मानते हैं। पर कात्यायन कहता है कि—

चतुर्थी षष्ठी अष्टमी दशमी ऋचा की नदी ऋषिका है शेष ऋचाओं का ऋषि विश्वामित्र है और ४, ८, १०, ऋचा का देवता विश्वामित्र है और ६, ७ का देवता इन्द्र है। शेष का देवता नदी। सम्पूर्ण सूक्त में त्रिष्टुप् छन्द है पर अन्तिम १३ वी ऋचा में अनुष्टुप् छन्द है। यह कात्यायन का मत है। पर महर्षि कहते हैं कि—

१ भुरिक् पंक्ति। ५ स्वराट् पंक्ति। ७ पंक्ति। २, १० विराट् त्रिष्टुप्। ३, ८ ११, १२ त्रिष्टुप्। ४, ६, ९ निचृत् त्रिष्टुप्। १३ उष्णिक् छन्द है छन्द भेद के कारण षड्ज आदि स्वर भी पृथक् होंगे। एक ही सूक्त ऋषि देवता और छन्द स्वर भेद का उदाहरण दिया है। इस की विस्तृत मीमांसा विश्वप्रदीप में की जावेगी।

(ब्राह्मणमीमांसा)

ऋषि ने अपने वेद भाष्य में सब मन्त्रों के आदि में यह लिखा है कि इस मन्त्र में किस विषय का उपदेश है। इसका नाम ऋषि ने मन्त्रभूमिका लिखा है। जैसे प्रथम मन्त्र के आरम्भ में ऋषि ने लिखा है कि—

"यहां प्रथम मन्त्र में अग्नि शब्द करके ईश्वर ने अपना और भौतिक अर्थ का उपदेश किया है।" यह मन्त्र का ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है मन्त्र उसका प्रयोजन ब्राह्मण कहाता है।

और यह भी ऋषि ने लिखा है कि मन्त्रभूमिका में जहां जहां 'उपदिश्यते' यह पद है वहां सर्वत्र कर्ता ईश्वर को जानो। क्योंकि वेदों द्वारा उपदेश करने वाला ईश्वर ही है कल्प कल्प के आदि में परमात्मा जीवों को उपदेश करता है। अर्थात् यह उपदेश ईश्वर से किया जा रहा है।

इस प्रकार महर्षि के वेदभाष्य में यह क्रम है कि— १-सूक्त की ऋचा संख्या। २-ऋषि। ३-देवता। ४-छन्द। ५-स्वर। ६-मन्त्रभूमिका, मन्त्रभूमिका का भाषार्थ

साथ है। ७-मन्त्र का संहिता पाठ। ८-मन्त्र का पदपाठ। ९-पदार्थ। १०-अन्वय। ११-भावार्थ। इतना संस्कृत भाग में है। फिर आर्यभाषा भाग में—१२-पदार्थान्वय-भाषा। १३-भावार्थ। महर्षि ने आरम्भ से अन्त तक एक मन्त्र के साथ दूसरे मन्त्र का सम्बन्ध दिखाया है। ये चारों वेद आदि से अन्त तक एक ग्रन्थ है संग्रह नहीं है अतः पूरे वेदों को जानने वाला एक मन्त्र का भी अर्थ कर सकता है। 'पदार्थान्वय-भाषा' शब्द का अर्थ है कि यह आर्यभाषा अन्वय की है पदों के अर्थों की सहायता अन्वय की भाषा लिखने में ली गई है अतः इसे पदार्थान्वयभाषा शब्द से ऋषि ने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में लिखा है। आगे संक्षेप में इस पदार्थान्वयभाषा शब्द को 'पदार्थ' मात्र लिखा छपा देख कर ऋषिभाष्यानभिज्ञ यह समझते हैं कि यह संस्कृत पदार्थ की आर्यभाषा है। आगे लिखने का प्रकार यह चाहिये था कि 'पदार्थ०' इस प्रकार छापते तो सन्देह न होता। यह प्रथम मन्त्र की व्याख्या और ऋषि देवता छन्द स्वर और ब्राह्मण पर विचार होकर प्रथम मन्त्र समाप्त हुआ ।।

विशेष द्रष्टव्य—इस प्रथम मन्त्र की विशिष्ट मीमांसा और अन्य भाष्यकारों की समीक्षा तथा ग्रन्थ की भूमिका आदि जिस में महर्षि के वेद भाष्य विषयक असली और नकली पत्रों पर विचार नकली पत्रों के फोटो आदि सब दिये जावेंगे। अंग्रेजी भाषा में महर्षि के वेदभाष्य की सम्पूर्ण व्याख्या पृथक् भाग में है।

यह सब प्रथम मन्त्र के अन्वय मात्र भाष्य की व्याख्या है पदार्थ और भावार्थ की व्याख्या पर पदार्थ प्रदीप, भावार्थ प्रदीप तथा ऋष्यादि पर विश्वप्रदीप लिखा जा रहा है।

शमित्योम्

२८३ पृष्ठानन्तरं पठनीयम्—

अत्राह षड्गुरुशिष्यः—

अत्राग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरित्येकोनत्वान्निचृद्गायत्री वेदितव्या।
(वेदार्थ दीपिका १ । १ ।।)

अथायं छन्दःसामान्यनियमो ज्ञेयः प्रत्येकं छन्द एकाक्षर न्यूनत्वे निचृत् संज्ञां लभते। द्व्यक्षरन्यूनत्वे विराट् संज्ञां भजते। तथैव प्रत्येक छन्दसि एकाक्षराधिक्ये भुरिक् संज्ञा भवति। द्व्यक्षराधिक्ये च स्वराट् इति विशेष संज्ञा।
(द्र० पिङ्गल ३ । ५९, ६०)

ऋग्वेदस्य प्रथमेऽस्मिन् सूक्ते 'अग्निः पूर्वेभिः०' इति द्वितीया ऋक् त्रयोविंशत्यक्षरा तस्मात् सा गायत्री निचृद् गायत्री।

'राजन्तमध्वराणां०' इत्यष्टमी ऋक् तथा 'सः नः पितेव०' इति नवमी च ऋक् द्वाविंशत्यक्षरा तत इमे विराड्गायत्रीति संज्ञां लभेते।

एवमन्योऽपिच्छन्दःसामान्य नियमो ज्ञेयः—

त्रिपाद्णिष्टमध्यमा पिपीलिकामध्या। विपरीता यवमध्या।

(पिङ्गल ३। ५७, ५८)

अस्यायमर्थ :—यदाद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ मध्यमोऽल्पतराक्षरः तदाऽणिष्ठ-मध्या सती पिपीलिकामध्या नाम भवति। अथ चाद्यन्तौ पादौ लघ्वक्षरौ मध्यमश्च बह्वक्षरः सा यवमध्या नाम भवति।

एवमत्र द्वितीयस्यामृचि आद्यन्तौ पादावष्टाक्षरौ मध्यमश्च सप्ताक्षरः। इयं पिपीलिकामध्या गायत्री। अष्टम्यां च ऋचि आद्यन्तौ पादौ सप्ताक्षरौ मध्य-मश्चाष्टाक्षरः इयं यवमध्या गायत्री। एतास्तु प्रत्येकच्छन्दसां संज्ञा। सामान्येन तु गायत्री इत्येव।

अतएव महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती कात्यायनश्च सामान्येन गायत्री त्येवाहतुः।

—:❀:—

स्वरसंचारः

(विद्यावारिधिः श्रीमतीदेवी शास्त्री एम-ए० वेदाचार्यः)

अ॒ग्निम्—अगि धातोः, बाहुलकादश्चतेश्च नि प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । अग्र+णी=अग्निः, अग्र+इ=अग्नि, नञ्+क्नू=अग्निः एषु कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । इ+अञ्जू+णी=अग्निः, इ+दह+णी=अग्निः । इत्यत्र (फिषो ऽन्त उदात्तः) फिट् १ इत्यन्तोदात्तः । द्वितीयैकवचने ऽमि (अनुदात्तौ सुप्पितौ) शब्दानु० ३।१।४।। इत्यमनुदात्तम् । तस्य पूर्वरूपैकादेशे (एकादेश उदात्तेनोदात्तः) शब्दानु० ८।२।५।। इति इकार उदात्तः ।

ई॒ळे—ईड् धातुस्वरेणोदात्तः । उत्तमपुरुषैकवचने इट् प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । (तास्यनुदात्तेत्०) शब्दानु० ६।१।१८६।। इडनुदात्तः । 'ई॒ळे' इति स्वतन्त्रमाद्युदात्तमाख्यातम् । यथा—**'ई॒ळे अ॒ग्निं वि॒प॒श्चित॑म्'** ऋ० ३।२७।२।। अत्र तु (तिङ्ङतिङः) शब्दानु० ८।१।२८।। इति निघातः ।

पु॒रोहि॑तम्—(पूर्वापरावराणा०) शब्दानु० ५।३।३९।। इत्यसि प्रत्ययः पूर्वशब्दस्य च पुर आदेशः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः पुरः शब्दः । (तद्धितश्चासर्वविभक्तिः) शब्दानु० १।१।३१।। इत्यव्ययसंज्ञा । धा धातोः क्तप्रत्यये (दधातेर्हि) शब्दानु० ६।४।४२।। इति दधातेः हि आदेशः । हित शब्दो ऽपि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । (पुरो ऽव्ययम्) शब्दानु० १।४।६७।। इति पुरः शब्दस्य गति संज्ञा । (कुगति प्रादयः) शब्दानु० २।२।१८।। इति समासः । तत्र समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते कर्मवाचिनि हित शब्दे (गतिरनन्तरः) शब्दानु० ६।२।४९।। इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । कर्तृवाचिनि हित शब्दे तु (तत्पुरुषे तुल्यार्थ०) शब्दानु० ६।२।२।। इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । (गतिरनन्तरः) इत्यत्र तु कर्मणीति वर्तते । विभक्तिस्वरः पूर्ववत् ।

य॒ज्ञस्य॑—यज् धातोः नङ् प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त एको यज्ञ शब्दः । द्वितीयः—याच्ञा शब्दात् (अर्श आदिभ्यो ऽच्) शब्दानु० ५।२।१२७।। इत्यच् प्रत्यये मत्वर्थीये चित्वादन्तोदात्तः । याच् धातोः कर्मणि नङ् प्रत्यये तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । तृतीयः—यजुः+नी+क्विप् । अत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । चतुर्थः—यजुः+उन्द्+क्तः इति समासान्तोदात्तः । न तु (तृतीया कर्मणि) इति । पञ्चमः—अजिन (अर्श आदिभ्यो ऽच्) शब्दानु० ५।२।१२७ इति चित्वादन्तोदात्तः । षष्ठः—इ+शतृ+जन्+ड=यज्ञः । कर्मधारये समासान्तोदात्तः । 'स्य' सुबनुदात्तः ।

दे॒वम्—दिव्+अच् । दा+अच् । दीप्+अच् । द्युत्+अच् । चित्वादन्तोदात्ताः । दिव्+अण्=देवः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः विभक्तिस्वरः पूर्ववत् ।

ऋ॒त्विज॑म्—ऋतौ ऋतौ यजति, ऋतौ ऋतौ इज्यते वा ऋत्विक् (गतिकारकोपपदात् कृत्) शब्दानु० ६।२।१३९।। इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ।

होता॑रम्—जुहोतेः ह्वयते वा तृन् । नित्वादाद्युदात्तः । तच्छीलादिवर्थेषु ।

र॒त्न॒धात॑मम्—रमयति जनानां मनांसि इति रत्नम् । (रमेस्त च) उणा० ३।१४।। इति न प्रत्ययः धातोः मकारस्य तकारः । (नब्विषयानिसन्तस्य) फिट् २६ इसन्तवर्जितस्य नब्विषयस्य=नपुंसकविषयस्य शब्दस्यादिरुदात्तः । इति रत्न शब्द आद्युदात्तः । रत्नानि दधातीति रत्नधाः समासत्वादन्तोदात्तः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण वा ऽन्तोदात्तः । अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमः । तमप् प्रत्ययः (अनुदात्तौ सुप्पितौ) शब्दानु० ३।१।४।। इति तमप् अनुदात्तः ।

प्रेस में

१—संस्कारविधि महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

२—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका महाभाष्यम्
(संस्कृत और आर्यभाषा में)

३—ब्रह्मयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

४—देवयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

५—पितृयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

६—वलिवैश्वदेवयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

७—अतिथियज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

८—ऋग्वेदमहाभाष्यम्
(द्वितीयो भागः)

९—ऋग्वेदमहाभाष्यम्
(अंग्रेजी अनुवाद)
महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के वेदभाष्य का विस्तृत अंग्रेजी अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों के अनुवादों की समीक्षा सहित ।

१०—वैदिक स्वर बोधशिक्षक
(आर्यभाषा में)